जित देखूँ तित तू

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

प्रस्तुत पुस्तकमें श्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजके द्वारा रचित नौ लेखोंका संग्रह है। ये लेख भगवत्प्रेमी साधकोंके लिये बहुत कामके हैं और सुगमतापूर्वक भगवत्प्राप्ति करानेमें बहुत सहायक हैं।

पुस्तकमें कुछ बातोंकी पुनरावृत्ति भी हो सकती है। परन्तु समझानेकी दृष्टिसे इस प्रकारकी पुनरावृत्ति होना दोष नहीं है। उपनिषद्में भी 'तत्त्वमसि'—इस उपदेशकी नौ बार पुनरावृत्ति हुई है। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें आया है—'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (४।१।१)। शुक्लयजुर्वेदसंहिताके उव्वटभाष्यमें आया है—'संस्कारोज्ज्वलनार्थं हितं च पथ्यं च पुनः पुनरुपदिश्यमानं न दोषाय भवतीति' (१।२१) अर्थात् संस्कारोंको उद्‌बुद्ध करनेके उद्देश्यसे हित तथा पथ्यकी बातका बार-बार उपदेश करनेमें कोई दोष नहीं है।

पुस्तकमें सभी बातें सब जगह नहीं लिखी जा सकतीं। अतः पाठकको किसी जगह कोई कमी दिखायी दे तो पूरी पुस्तक पढ़नेसे दूसरी जगह उसका समाधान मिल सकता है। फिर भी कोई कमी या भूल दिखायी दे तो पाठक सूचित करनेकी कृपा करें।

पाठकोंसे नम्र निवेदन है कि वे भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे इस पुस्तकको मनोयोगपूर्वक पढ़ें, समझें और लाभ उठायें।

अक्षय तृतीया

वि० सं० २०५१

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ-संख्या

~~०~~

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

१. जित देखूँ तित तू

'वासुदेवः सर्वम्' 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यह गीताका मुख्य सिद्धान्त है। गीताने इसीको महत्त्व दिया है। जड-चेतन, स्थावर-जंगम, उद्भिज्ज-स्वेदज-जरायुज-अण्डज, चौरासी लाख योनियाँ, चौदह भुवन, अनन्त ब्रह्माण्ड सब कुछ भगवान् ही हैं। इस भावके कई श्लोक गीतामें आये हैं; जैसे—

'येन सर्वमिदं ततम्' (२। १७, ८। २२, १८। ४६)
'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति' (७। ७)
'वासुदेवः सर्वम्' (७। १९)
'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' (९। ४)
'सदसच्चाहमर्जुन' (९। १९)
'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च' (१०। २०)
'सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन' (१०। ३२)
'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्' (१०। ३९)
'बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च' (१३। १५)

गीतामें जो विभूतियाँ बतायी गयी हैं, उनका तात्पर्य भी यही है कि एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है*। जितनी भी विभूतियाँ हैं, वे सब भगवान्‌के ऐश्वर्य हैं। ब्रह्म भी भगवान्‌की एक 'विभूति' है, ऐश्वर्य है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—**'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'**

---

* गीतामें भगवान्‌ने कारणरूपसे सत्रह विभूतियाँ (७। ८—१२), कार्य-कारणरूपसे सैंतीस विभूतियाँ (९। १६—१९), भावरूपसे बीस विभूतियाँ (१०। ४-५), व्यक्तिरूपसे पचीस विभूतियाँ (१०। ६), मुख्यरूपसे तथा अधिपतिरूपसे इक्यासी विभूतियाँ (१०। २०—३८), साररूपसे एक विभूति (१०। ३९) और प्रभावरूपसे तेरह विभूतियाँ (१५। १२—१५) बतायी हैं।

(१४। २७) अर्थात् मैं ब्रह्मका आधार हूँ। असत्‌की सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। असत् परिवर्तनशील है और सत् अपरिवर्तनशील है। ये सत् और असत्—दोनों ही भगवान्‌की विभूतियाँ हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (९। १९)।

गीतामें भगवान्‌ने ब्रह्मको भी '**माम्**' (अपना स्वरूप) कहा है—'**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्**' (८।१३), देवताओंको भी '**माम्**' कहा है—'**येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव**......' (९। २३), इन्द्रको भी '**माम्**' कहा है—'**त्रैविद्या मां सोमपाः**' (९। २०), उत्तम गतिको भी '**माम्**' कहा है—'**मामेवानुत्तमां गतिम्**' (७। १८),क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा)- को भी '**माम्**' कहा है—'**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**' (१३। २), सबके शरीरमें रहनेवाले अन्तर्यामीको भी '**माम्**' कहा है—'**मामात्मपरदेहेषु**' (१६। १८), सम्पूर्ण प्राणियोंके बीजको भी '**माम्**' कहा है—'**बीजं मां सर्वभूतानाम्**' (७। १०) आदि।

तात्पर्य है कि सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार तथा मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, भूत, प्रेत, पिशाच आदि जो कुछ भी है, वह सब मिलकर भगवान्‌का ही समग्ररूप है अर्थात् सब भगवान्‌की ही विभूतियाँ हैं, उनका ही ऐश्वर्य है। ये सब-की-सब विभूतियाँ अव्यय (अविनाशी) हैं। इसलिये गीताने समग्ररूप अर्थात् विराट्‌रूपको भी अव्यय कहा है—'**योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्**' (११। ४), '**त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता**' (११। १८), निर्गुण-निराकारको भी अव्यय कहा है—'**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च**' (१४। २७), '**सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते**' (१८। २०), सगुण-साकारको भी अव्यय कहा है—'**तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्**' (४। १३), '**परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्**' (७। २४), '**मूढोऽयं नाभिजानाति**

लोको मामजमव्ययम्' (७।२५), '**यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः**' (१५।१७), परमपदको भी अव्यय कहा है—'**पदमव्ययम्**' (१५।५, १८।५६), योगको भी अव्यय कहा है—'**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्**' (४।१), विज्ञानसहित ज्ञानको भी अव्यय कहा है—'**सुसुखं कर्तुमव्ययम्**' (९।२)।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इसका अनुभव करनेवाले भक्तको भगवान्‌ने अत्यन्त दुर्लभ महात्मा कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ (गीता ७। १९)

यहाँ '**वासुदेवः**' शब्द पुँल्लिंगमें आया है; अतः यहाँ '**वासुदेवः सर्वः**' कहा जाना चाहिये था। परन्तु यहाँ '**सर्वः**' न कहकर '**सर्वम्**' कहा गया है, जो नपुंसकलिंगमें है। अगर तीनों लिंगों (**सर्वः, सर्वा, सर्वम्**)-का एकशेष किया जाय तो नपुंसकलिंग (**सर्वम्**) ही एकशेष रहता है। नपुंसकलिंगके अन्तर्गत तीनों लिंग आ जाते हैं। अतः '**सर्वम्**' शब्दमें स्त्री, पुरुष और नपुंसक—सबका समाहार हो जाता है। गीतामें जगत्, जीव और परमात्मा—इन तीनोंके लिये पुँल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग—इन तीनों ही लिंगोंका प्रयोग हुआ है*। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि जगत्, जीव और परमात्मा—ये तीनों ही '**सर्वम्**' शब्दके अन्तर्गत हैं। अतः तीनों लिंगोंसे कही जानेवाली सब-की-सब वस्तुएँ, व्यक्ति, परिस्थिति आदि परमात्मा ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**।' इसमें '**सर्वम्**' तो असत् है और '**वासुदेवः**' सत् है। असत्‌का भाव विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (गीता २। १६)

---

* द्रष्टव्य—'गीता-दर्पण' में लेख-संख्या ९९—'गीतामें ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृतिकी अलिंगता।'

तात्पर्य है कि सत्–ही–सत् है, असत् है ही नहीं। वासुदेव–ही–वासुदेव है, **'सर्वम्'** है ही नहीं। सत्का होनापना स्वतःसिद्ध है और असत्का न होनापना स्वतःसिद्ध है। सत्, चित्, आनन्द तथा अद्वैतका भाव–ही–भाव है और असत्, जड, दुःख तथा द्वैतका अभाव–ही–अभाव है। जब असत्की सत्ता ही नहीं है तो फिर सत्–ही–सत् रहा—यही **'वासुदेवः सर्वम्'** है।

विवेक वहीं काम करता है, जहाँ सत् और असत्—दोनोंका विचार होता है। जब असत् है ही नहीं तो फिर विवेक क्या करे? असत्को मानें तो विवेक है और असत्को न मानें तो विश्वास है। विवेकमें सत्–असत्का विभाग है, विश्वासमें विभाग है ही नहीं। विश्वासमें केवल सत्–ही–सत् अर्थात् परमात्मा–ही–परमात्मा हैं।

असत्की सत्ता माननेसे ही संयोग और वियोग हैं। असत्को सत्ता न दें तो न संयोग है, न वियोग है, प्रत्युत 'योग' (नित्ययोग) है।

प्रश्न—असत्की सत्ता न मानते हुए भी असत्का आकर्षण क्यों रहता है? काम, क्रोध, लोभ, अभिमान आदि दोष क्यों रहते हैं?

उत्तर—इसलिये रहते हैं कि असत्की सत्ता न होते हुए भी उसकी सत्ता स्वीकार कर ली और उससे भी अधिक उसकी महत्ता, श्रेष्ठता स्वीकार कर ली। मनुष्य भूतकालके दोषको स्वीकार करके ही अपनेको दोषी मानता है, जबकि भूतकाल अभी है ही नहीं। दोष आगन्तुक है, पर निर्दोषता स्वतःसिद्ध है। दोष आनेसे पहले भी निर्दोषता थी और दोष जानेके बाद भी निर्दोषता रहेगी। अतः दोषके समय भी निर्दोषता निरन्तर ज्यों–की–त्यों है, पर उधर मनुष्यकी दृष्टि नहीं जाती। दोष तो आता–जाता है, फिर रहनेवाली तो निर्दोषता ही हुई! अतः निर्दोषता सच्ची है, दोष

सच्चा नहीं है। जो आगन्तुक है, वह सच्चा कैसे हो सकता है?

जब त्याज्य वस्तु (असत्) है ही नहीं, तो फिर किसका त्याग करें? किसका निषेध करें? एक कहावत है—'नंगा क्या धोवे और क्या निचोड़े?' जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसके त्यागका अभिमान कैसे? न त्याग है, न त्यागका अभिमान है और न त्यागी है, होना सम्भव ही नहीं! मनुष्य दिनमें एक-दो घण्टे व्याख्यान देता है, पर 'मैं वक्ता हूँ'—यह फूँक हरदम भरी रहती है। वास्तवमें सभी मनुष्य वक्ता और श्रोता हैं; क्योंकि सभी बोलते हैं और सभी सुनते हैं। परन्तु मनुष्यमें वक्तापनका अभिमान तब आता है, जब उसमें यह भाव आ जाता है कि 'मैं समझता हूँ, दूसरे नहीं समझते; मेरेमें समझ है, दूसरेमें समझ नहीं है; और मैंने समझ लिया है, दूसरेने नहीं समझा है। अतः मैं दूसरोंको समझाता हूँ अथवा समझा सकता हूँ।' वास्तवमें समझदार वही है, जो अपनेको बेसमझ मानता है अर्थात् जिसमें समझदारीका अभिमान नहीं है*।

वास्तविक दृष्टिसे देखें तो सब कुछ वासुदेव ही है। समझदार भी वही है, बेसमझ भी वही है और समझ भी वही है। वक्ता भी वही है, श्रोता भी वही है और व्याख्यान भी वही है। वे ही अनेक रूपोंसे तरह-तरहकी लीलाएँ करते हैं। इस वास्तविकताको

---

* भर्तृहरिजी कहते हैं—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

(नीतिशतक)

'जब मैं थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त करके हाथीके समान मदान्ध हो रहा था, उस समय मेरा मन 'मैं सब जाननेवाला हूँ' ऐसा सोचकर घमण्डसे पूर्ण था। परन्तु जब विद्वानोंके संगसे कुछ-कुछ ज्ञान होने लगा, तब 'मैं तो मूर्ख हूँ' ऐसा समझनेके कारण मेरा वह मद ज्वरकी तरह उतर गया।'

जाननेपर फिर कौन अभिमान करे और किसका अभिमान करे? तात्पर्य है कि जो नहीं है, उसको सत्ता और महत्ता देनेसे ही अभिमान आदि सब दोष आते हैं।

भगवान् कहते हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

(गीता ७। १२)

'जितने भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव हैं, वे सब मेरेसे ही होते हैं—ऐसा समझो। परन्तु मैं उनमें और वे मेरेमें नहीं हैं।'

अपना कुछ स्वार्थ रखें, लेनेकी इच्छा रखें, तभी सात्त्विक, राजस और तामस—तीन भेद होते हैं। यदि अपना कोई स्वार्थ न रखें तो ये भगवान्‌के ही स्वरूप हैं। इनको अपने लिये मानना, इनसे सुख लेना ही पतनका कारण है।

सात्त्विक-राजस-तामस भावोंमें भगवान् नहीं हैं और भगवान्‌में सात्त्विक-राजस-तामस भाव नहीं हैं—इसका तात्पर्य है कि सात्त्विक-राजस-तामस भाव (पदार्थ और क्रियाएँ) हैं ही नहीं, प्रत्युत सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान्‌से उत्पन्न होनेके कारण सब भाव भगवान्‌के ही स्वरूप हुए (गीता १०। ४-५)।

प्रश्न—जब सात्त्विक, राजस और तामस—सभी भाव परमात्मासे ही प्रकट होते हैं, तो फिर 'मैं उनमें नहीं हूँ, वे मेरेमें नहीं हैं'—यह कैसे?

उत्तर—जैसे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि और मूर्च्छा—ये पाँचों अवस्थाएँ हमारेमें होनेपर भी हम इन पाँचोंसे अतीत हैं। कारण कि अवस्थाएँ बदलती हैं, पर हम वही रहते हैं। इन अवस्थाओंके भाव, अभाव और परिवर्तनका अनुभव तो सबको

होता है, पर अपने अभाव और परिवर्तनका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। अगर हम अवस्थाओंमें होते और अवस्थाएँ हमारेमें होतीं तो हम सदा एक अवस्थामें ही रहते और अवस्थाका परिवर्तन होता ही नहीं। अवस्थाओंके परिवर्तनका अनुभव उसीको हो सकता है, जो अवस्थाओंसे अतीत और अपरिवर्तनशील है। ऐसे ही सात्त्विक, राजस और तामस भावोंमें परिवर्तन होता रहता है, पर परमात्मा ज्यों-के-त्यों रहते हैं। अतः परमात्मासे सब कुछ होते हुए भी वे सबसे अतीत हैं।

परमात्मतत्त्व अक्रिय है। परन्तु अक्रिय होनेपर भी वह सम्पूर्ण क्रियाओं और शक्तियोंका केन्द्र है। सभी सक्रियता उस अक्रिय तत्त्वसे ही आती है। जैसे, सुषुप्ति अवस्थामें हम अक्रिय होते हैं तो उससे शरीरमें एक शक्ति, ताजगी, स्फूर्ति आती है। सम्पूर्ण सात्त्विक, राजस और तामस भाव (पदार्थ और क्रिया) उसीसे प्रकट होते हैं। उसमें सब कुछ है और कुछ नहीं है! एक सिद्धान्त है कि जिसमें कुछ नहीं होता, उसमें सब कुछ होता है और जिसमें सब कुछ होता है, उसमें कुछ नहीं होता। अतः सबसे अतीत होता हुआ भी सब कुछ वही है। मालिक भी वही है, दास भी वही है। प्रिया भी वही है, प्रियतम भी वही है। भगवान् भी वही है, भक्त भी वही है। साध्य भी वही है, साधक भी वही है। सब कुछ वही होते हुए भी वह सबसे अतीत भी है*। उसीको गीताने 'समग्र'

---

* (१) सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥
(गीता १३। १४)

'वे परमात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको प्रकाशित करनेवाले हैं; आसक्तिरहित हैं और सम्पूर्ण संसारका भरण-पोषण करनेवाले हैं; तथा गुणोंसे रहित हैं और सम्पूर्ण गुणोंके भोक्ता हैं।'

(२) अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
(श्वेताश्वतर० ३। १९)

नामसे कहा है। वह समग्र ही '**वासुदेवः सर्वम्**' है।

'मैं उनमें नहीं हूँ, वे मेरेमें नहीं हैं'—ऐसा कहकर भगवान्ने यह भाव प्रकट किया है कि यदि कोई मनुष्य मेरेको सत्ता और महत्ता न देकर सात्त्विक, राजस और तामस गुण, पदार्थ तथा क्रियाको सत्ता और महत्ता देगा, वह जन्म-मरणमें चला जायगा—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। 'सब गुण मेरेसे ही उत्पन्न होते हैं'—ऐसा कहकर भगवान्ने यह भाव प्रकट किया है कि साधककी दृष्टि इन गुणोंकी तरफ न जाकर मेरी (गुणातीतकी) तरफ ही जानी चाहिये अर्थात् मेरी सत्ता मानकर मेरेको ही महत्ता देनी चाहिये, जिससे कि मेरी प्राप्ति हो जाय।

परमात्मा शरीरमें 'हूँ' रूपसे और संसारमें 'है' रूपसे विद्यमान हैं*। 'हूँ' और 'है' एक हैं तथा शरीर और संसार एक हैं। एक तरफ 'हूँ' है और एक तरफ 'है' है तथा इन दोनोंके बीचमें शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि और उनका विषय अर्थात् संसार (मैं-पन)-की मान्यता है। 'हूँ' और 'है' सत् हैं तथा शरीर और संसार असत् हैं। सत्-सत् एक रहा, बीचमें असत् आ गया। असत्को सत्ता और

'वे परमात्मा हाथ-पैरोंसे रहित होनेपर भी ग्रहण करनेमें समर्थ तथा वेगपूर्वक चलनेवाले हैं। वे नेत्रोंके बिना ही देखते हैं और कानोंके बिना ही सुनते हैं।'

(३) बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥
(मानस, बाल० ११८। ३-४)

* शरीरको 'मैं' माननेके कारण ही 'हूँ' कहा जाता है। अगर मैं-पन (अहम्) न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' ही रहेगा।

महत्ता देनेसे ही 'हूँ' और 'है' के बीचमें आड़ (मैं-पन) आ गयी। यह आड़ न रहे तो 'हूँ' का आकर्षण स्वतः 'है' में हो जायगा—यही प्रेम है। कारण कि अंशीकी तरफ अंशका आकर्षण स्वतः होता है; जैसे—पृथ्वीका अंश होनेसे ऊपर फेंके गये पत्थरका आकर्षण स्वतः पृथ्वीकी तरफ होता है और सूर्यका अंश होनेसे अग्निकी लपटें स्वतः ऊपर उठती हैं।

रामायणमें आया है—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस, बाल० ११७। ४)

—यहाँ 'असत् माया' न कहकर 'जड़ माया' कहनेसे दो अर्थ निकलते हैं—(१) जिसकी सत्यतासे असत् माया भी मूढ़तासे सत् दीखती है और (२) जिसकी चेतनतासे जड़ माया भी मूढ़तासे चेतन दीखती है, वह सत् और चेतन तत्त्व परमात्मा हैं—

ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥

(मानस, बाल० २३। ३)

परमात्मामें जगत्को देखना नास्तिकता है; क्योंकि वास्तवमें जगत् है नहीं। जगत्में परमात्माको देखना आस्तिकता है; क्योंकि वास्तवमें परमात्मा ही हैं। नास्तिक संसारी होता है और आस्तिक साधक होता है। कल्याण आस्तिकका होता है, नास्तिकका नहीं; क्योंकि नास्तिककी दिशा विपरीत है।

परमात्मामें जगत्को देखनेसे जगत् ही दीखता है, परमात्मा नहीं दीखते और जगत्में परमात्माको देखनेसे परमात्मा ही दीखते हैं, जगत् नहीं दीखता। जगत्में परमात्माको देखनेका साधन है—जगत्की वस्तुओंको केवल सेवा-सामग्री मानना और व्यक्तियोंको परमात्माका स्वरूप मानकर उस सेवा-सामग्रीसे उनकी सेवा

करना, उनको सुख पहुँचाना। सेवा-सामग्रीको अपनी न मानकर सेव्य (परमात्मा)-की ही माने। जैसे, गंगाजलसे गंगाका पूजन किया जाय, दीपकसे सूर्यका पूजन किया जाय, ऐसे ही भगवान्‌की ही वस्तु भगवान्‌के अर्पित करनी है—'**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये**'। अगर वस्तुओंको अपनी मानकर उनसे सुख लेंगे तो वस्तुएँ बड़ी हो जायँगी और हम छोटे (दास) हो जायँगे। इतना ही नहीं, देहाभिमान मुख्य होनेसे हम जड़तामें चले जायँगे, हमारी चेतनता आच्छादित हो जायगी।

भगवान् कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(मानस, किष्किन्धा० ३)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

'जिस परमात्मासे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

यदि व्यक्तियोंको परमात्माका स्वरूप मानकर वस्तुओंसे उनकी सेवा की जाय तो संसार लुप्त हो जायगा और परमात्मा प्रकट हो जायँगे अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही है'—इसका अनुभव हो जायगा। जैसे रस्सीमें साँपका भ्रम मिटनेपर साँप तो लुप्त हो जाता है, पर रस्सी तो रहती ही है, ऐसे ही परमात्मामें जगत्‌का भ्रम मिटनेपर जगत् तो लुप्त हो जाता है, पर परमात्मा तो रहते ही हैं। संसारकी तो मान्यता है, पर 'परमात्मा हैं' यह वास्तविकता है।

भगवान् कहते हैं—

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १५)

जब साधक समस्त स्त्री-पुरुषोंमें निरन्तर मेरा ही भाव करता है अर्थात् मेरेको ही देखता है*, तब शीघ्र ही उसके चित्तसे स्पर्धा, ईर्ष्या, तिरस्कार आदि दोष अहंकारके सहित दूर हो जाते हैं।'

यही बात सन्तोंने भी कही है—

तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित तू॥

गीतामें संसारको परमात्माका स्वरूप भी कहा गया है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९) और दुःखालय (दुःखोंका घर) भी कहा गया है—'**दुःखालयमशाश्वतम्**' (८। १५)। इसका तात्पर्य है कि जो संसारकी वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख लेता है, उसके लिये तो संसार भयंकर दुःख देनेवाला है, पर जो वस्तु और क्रियासे व्यक्तियोंकी सेवा करता है, उसके लिये संसार परमात्माका स्वरूप है। सुखकी आशा, कामना और भोग महान् दुःखोंके कारण हैं। इसलिये वस्तु, व्यक्ति और क्रियासे सुख लेना ही नहीं है। जिस क्षण सुखबुद्धिका त्याग है, उसी क्षण परमात्माकी प्राप्ति है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)।

वस्तुओंको व्यक्तियोंकी सेवामें लगाना साधन है और वस्तुओं तथा व्यक्तियोंसे सुख लेना घोर असाधन है। जिसके जीवनमें कभी

---

* स्त्री-पुरुषोंमें भगवान्‌को देखनेके लिये इसलिये कहा है कि हम अधिकतर स्त्री-पुरुषोंमें ही गुण-दोष देखते हैं, जिससे उनमें भगवद्भाव नहीं होता। अतः स्त्री-पुरुषोंमें गुण-दोष न देखकर केवल भगवान्‌को देखनेसे सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंमें सुगमतासे भगवद्भाव हो जायगा।

साधन और कभी असाधन रहता है, उसके जीवनमें असाधनकी ही मुख्यता रहती है। सुखभोग और संग्रह ही जिसका उद्देश्य है, वह असाधक है। ऐसा मनुष्य साधन करना तो दूर रहा, साधन करनेका निश्चय भी नहीं कर सकता[१]। परन्तु जिसका उद्देश्य भोग और संग्रहका है ही नहीं, प्रत्युत केवल परमात्मप्राप्तिका है, वह साधक है। ऐसा मनुष्य यदि किसी कारणसे दुराचारी भी हो तो भी शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है[२]।

प्रश्न—जब सब कुछ भगवान् ही हैं, तो फिर यह संसार कहाँसे आया? जीव संसार-बन्धनमें कैसे पड़ा?

उत्तर—संसार न तो भगवान्‌की दृष्टिमें है और न जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महात्माकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टि (मान्यता)-में है। अतः संसारको सत्ता और महत्ता जीवने दी

---

१. भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (गीता २। ४४)

'उस पुष्पित (भोग और ऐश्वर्यकी प्राप्तिका वर्णन करनेवाली) वाणीसे जिनका अन्तःकरण भोगोंकी तरफ खिंच गया है और जो भोग तथा ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्योंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती।'

२. अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता ९। ३०-३१)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है। वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरे भक्तका विनाश (पतन) नहीं होता।'

है—'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। जीव वास्तवमें संसारमें नहीं फँसा है, प्रत्युत अपनी भावनामें फँसा है—

सब जग ईश्वर-रूप है, भलो बुरो नहिं कोय।
जैसी जाकी भावना, तैसो ही फल होय॥

जीवने संसारकी सत्ता मान ली और सत्ता मानकर उसको महत्ता दे दी। महत्ता देनेसे कामना अर्थात् सुखभोगकी इच्छा पैदा हुई, जिससे जीव जन्म-मरणमें पड़ गया। तात्पर्य यह हुआ कि एक भगवान्के सिवाय दूसरी सत्ता माननेसे ही जीव संसार-बन्धनमें पड़ा है। अतः दूसरी सत्ता न माननेकी जिम्मेवारी जीवकी ही है। अगर वह संसारकी सत्ता न माने तो संसार है ही कहाँ?

ज्ञानमार्गमें तो अज्ञान बाधक है, पर भक्तिमार्गमें एक भगवान्के सिवाय अन्यकी सत्ता और महत्ता बाधक है। कारण कि वास्तवमें अज्ञानकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं, अधूरे तथा विपरीत ज्ञानको ही अज्ञान कह देते हैं। इसी तरह भगवान्के सिवाय अन्यकी सत्ता है ही नहीं, भगवान्के ऐश्वर्यको ही संसार कह देते हैं। अज्ञान मिटता है विवेकका आदर करनेसे और अन्यकी सत्ता मिटती है भोगबुद्धिका त्याग करनेसे*।

प्रश्न—पहलेसे ही सुखभोगकी जो आदत पड़ी हुई है, वह कैसे मिटे?

---

* अज्ञानको मिटानेकी चिन्ता ज्ञानमार्गीको होती है, भक्तिमार्गीको नहीं। भक्तिमार्गीका अज्ञान तो भगवान् मिटा देते हैं (गीता १०। ११)। राग-द्वेष ज्ञानमार्गीके लिये भी बाधक हैं और भक्तिमार्गीके लिये भी। राग-द्वेष पैदा होते हैं—अन्यको सत्ता देनेसे। भक्तिमार्गी अन्यकी सत्ता मानता ही नहीं—'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं' (मानस, अरण्य० ५। ६)। परन्तु ज्ञानमार्गी अन्यकी सत्ताको मिटाता है, जिससे सत्ता और दृढ़ होती है; क्योंकि मूलमें उसने अन्यको सत्ता दे दी, तभी तो उसको मिटानेका उद्योग करता है!

उत्तर—सुखभोगकी आदत मिटानेके लिये उद्देश्य और अहंता—दोनोंको बदलना आवश्यक है। मनुष्यशरीर भोग भोगनेके लिये है ही नहीं—'**एहि तन कर फल बिषय न भाई**' (मानस, उत्तर० ४४। १)। अतः मेरा उद्देश्य भोग और संग्रह करनेका नहीं है, प्रत्युत परमात्माको प्राप्त करनेका ही है—यह उद्देश्यको बदलना है। मैं भोगी नहीं हूँ, प्रत्युत मैं तो साधक ही हूँ—यह अहंताको बदलना है। मनुष्य उद्देश्यको दृढ़ करता नहीं और अहंताको बदलता नहीं, इसी कारण उसकी आदत नहीं सुधरती। आदतका सुधार किये बिना मनुष्य भले ही व्याख्यान दे दे, सब शास्त्र पढ़ ले, पुस्तकें लिख ले, लोगोंकी दृष्टिमें महात्मा बन जाय, तो भी उसका कल्याण नहीं हो सकता।

एक बार मथुराके कुछ सज्जन रातको भोजन करके, भाँग पीकर विश्रामघाटपर आये और एक नौकापर बैठ गये। उन्होंने विचार किया कि यमुना स्वतः प्रयागराज जाती है और हमें भी प्रयागराज जाना है; अतः नौकामें बैठकर हम सुगमतासे प्रयागराज पहुँच जायँगे। ऐसा विचार करके उन्होंने 'जय यमुना मैयाकी' कहा और नौका खेने लगे। वे रातभर नौका खेते रहे। सुबह होते ही उन्होंने एक शहर देखा तो किसी व्यक्तिसे पूछा कि यह कौन-सा शहर है? उसने बताया—यह मथुरा है। फिर पूछा कि यह घाट कौन-सा है? उसने कहा—विश्रामघाट। वे बोले—अरे! हम तो विश्रामघाटसे ही चले थे और वहीं पहुँच गये, बात क्या है? देखा तो पता लगा कि नौकाकी रस्सी तो खोली ही नहीं और रातभर यों ही नौका खेनेकी मेहनत करते रहे! उद्देश्यको दृढ़ किया नहीं और अहंताको बदला नहीं—यही रस्सीको न खोलना है।

प्रश्न—'मैं साधक हूँ'—इस तरह अहंताको बदलनेपर तो अभिमान आ जायगा, जिससे साधकका पतन होगा?

उत्तर—अहंता बदलनेसे साधकमें यह भाव आयेगा कि मैं साधक हूँ तो साधनसे विरुद्ध कोई कार्य कर ही नहीं सकता। मैं साधक हूँ तो असाधन कैसे कर सकता हूँ? मैं सत्यवादी हूँ तो असत्य कैसे बोल सकता हूँ? मैं ईमानदार हूँ तो बेईमानी कैसे कर सकता हूँ? मैं साहूकार हूँ तो चोरी कैसे कर सकता हूँ? जैसी अहंता होगी, वैसी ही क्रिया होगी। अभिमान तभी आता है, जब साधक दूसरोंको सामने रखता है, उनके साथ अपनी तुलना करता है। दूसरोंको देखनेसे उसको उनकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता दीखती है, जिससे अभिमान आ जाता है। दूसरोंके कर्तव्यको देखना अपना कर्तव्य नहीं है, प्रत्युत अकर्तव्य है। इसलिये साधकको केवल अपने कर्तव्यका पालन करना है। दूसरे अपने कर्तव्यका पालन करते हैं या नहीं, उधर दृष्टि ही नहीं डालनी है। फिर साधकमें अभिमान नहीं आयेगा। भक्त तो दूसरोंको भगवान्‌का स्वरूप मानता है—'**मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत**' (मानस, किष्किन्धा० ३)। इसलिये उसमें अभिमान आता ही नहीं। तात्पर्य है कि दूसरोंको असाधक माननेसे ही साधकमें अभिमान आता है। दूसरोंको असाधक मानना असाधन है, जो पतन करनेवाला है। इसलिये साधकका यह भाव रहना चाहिये कि मैं साधक हूँ तो साधन करनेके लिये, न कि दूसरोंको असाधक माननेके लिये।

अहम्‌में बैठी हुई बात निरन्तर रहती है। अतः मैं साधक हूँ—ऐसी अहंता होनेपर साधकके द्वारा निरन्तर साधन होगा। साधन करते समय और सांसारिक कार्य करते समय—दोनों ही समय वह साधक रहेगा और उससे साधन-विरुद्ध क्रिया नहीं होगी। निरन्तर साधन होनेसे उसकी अहंता सुगमतासे मिट जायगी। साधककी साधनसे और साधनकी साध्यसे अभिन्नता होती है।

इसलिये अहंता मिटनेपर साधकपना न रहकर साधनमात्र रह जाता है। साधनमात्र रहते ही साधन साध्यमें लीन हो जाता है। फिर एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं रहता।

प्रश्न—सब कुछ भगवान् ही हैं—यह बात वास्तविक होते हुए भी समझमें क्यों नहीं आती?

उत्तर—अपनेमें सकामभाव होना और भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ताको मानकर उसको महत्त्व देना—इन दो कारणोंसे 'सब कुछ भगवान् ही हैं' यह बात समझमें नहीं आती। अगर हम अपनेमें कामना न रखें और सबमें भगवद्‌बुद्धि रखें तो **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव हो जायगा। अगर इन दोनोंमेंसे एक भी बात सांगोपांग, ठीक तरहसे जीवनमें आ जाय तो कल्याण हो जायगा। परन्तु इसमें भी फर्क यह रहेगा कि कामनाओंके नाशसे मुक्ति तो हो जायगी, पर प्रेम-(अनन्तरस)-की प्राप्ति नहीं होगी, जबकि सबमें भगवद्‌बुद्धि होनेसे मुक्तिके साथ-साथ प्रेमकी भी प्राप्ति हो जायगी!

एक मार्मिक बात है कि भगवान्‌को न मानना कामनासे भी अधिक दोषी है। जो भगवान्‌को छोड़कर अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, उनमें यदि कामना रह जाय तो वे जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं—**'गतागतं कामकामा लभन्ते'** (गीता ९। २१)। परन्तु जो केवल भगवान्‌का ही भजन करते हैं, उनमें यदि कामना रह भी जाय तो भी भगवान्‌की कृपा और भजनके प्रभावसे वे भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं। कामनाके कारण ऐसे भक्तोंके तीन भेद होते हैं—अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु*। इन तीनोंको ही

---

* चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
(गीता ७। १६)

भगवान्‌ने 'उदार' कहा है—'**उदाराः सर्व एवैते**' (७। १८)। परन्तु जो भगवान्‌के सिवाय अन्यका भजन करनेवाले हैं, उनको भगवान्‌ने उदार नहीं कहा है, प्रत्युत उनके भजनको अविधिपूर्वक किया गया बताया है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

(गीता ९। २३)

देवताओंको भगवान्‌से अलग समझनेके कारण अर्थात् देवताओंमें भगवद्‌बुद्धि न होनेके कारण तथा कामना भी होनेके कारण उनकी उपासना अविधिपूर्वक है। तात्पर्य है कि सबमें भगवद्‌बुद्धि न होना सकामभावसे भी अधिक घातक है। श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(श्रीमद्भा० २। ३। १०)

'जो बुद्धिमान् मनुष्य है, वह चाहे सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो, चाहे सम्पूर्ण कामनाओंसे युक्त हो, चाहे मोक्षकी कामनावाला हो, उसको तो तीव्र भक्तियोगके द्वारा परमपुरुष भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये।'

प्रश्न—भक्तिमें मुख्य बाधक क्या है?

उत्तर—मुख्य बाधक है—कपट, छल, कुटिलता, चालाकी, विश्वासघात, छिपाव, दम्भ, पाखण्ड। काम, क्रोध आदि दोष उतने बाधक नहीं हैं, जितने कपट आदि बाधक हैं। कारण कि काम, क्रोध आदिमें तो साधक उनके परवश हो जाता है, पर कपट आदि स्वतन्त्रतासे करता है। साधक सच्चे

हृदयसे काम, क्रोधादि दोषोंको दूर करना चाहता है, पर न चाहते हुए भी वे आ जाते हैं; परन्तु छल, कपट आदिको तो वह जान-बूझकर करता है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥*

(मानस, सुन्दर० ४४। ३)

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

(मानस, उत्तर० ८७ क)

भगवान्‌को कपट, छल आदि नहीं सुहाते, जबकि अन्य दोषोंकी तरफ वे देखते ही नहीं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

(मानस, बाल० २९। ३)

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(मानस, उत्तर० १। ३)

इसलिये सन्तोंके स्वभावमें आया है—'**सरल सुभाव न मन कुटिलाई**' (मानस, उत्तर० ४६। १)। सन्तवाणीमें भी कपट-त्यागकी बात विशेषरूपसे आयी है; जैसे—

कपट गाँठ मन में नहीं, सबसों सरल सुभाव।
नारायण वा भक्त की, लगी किनारे नाव॥

× × ×

तुलसी सीतानाथ ते मत कर कपट सनेह।
क्या परदा भर्तार सों जिन्ह देखी सब देह॥

× × ×

* मनुष्य 'कपट' अपने हृदयमें रखता है, 'छल' में वह दूसरोंको ठगता है, और 'छिद्र' में वह दूसरोंके दोष ढूँढ़ता है। इसलिये ये दोष ज्यादा बाधक हैं।

जग चतुराई छोड़कर, होय मूढ़ भज राम॥

हम काम-क्रोधादि दोषोंको दूर करना चाहते हैं, फिर भी वे अपनेसे दूर नहीं होते तो यह निर्बलता (कमजोरी) है। परन्तु कपट आदि करना निर्बलता नहीं है, प्रत्युत अपनेको सबल मानकर किया गया अपराध है। जो निर्बल है, उसपर प्रायः हरेकको दया आती है, पर जो कपटी है, उसपर क्रोध आता है। इसलिये भगवान् निर्बलोंके हैं, कपटियोंके नहीं—

'सुने री मैंने निरबल के बल राम'

'अशक्तानां हरिर्बलम्'

(ब्रह्मवैवर्त० गण० ३५। ९६)

जिस तरह भक्तिमें कपट, छल आदि बाधक होते हैं, उसी तरह भागवत-अपराध भी बाधक होता है। भगवान् अपने प्रति किया गया अपराध तो सह सकते हैं, पर अपने भक्तके प्रति किया गया अपराध नहीं सह सकते। देवताओंने मन्थरामें मतिभ्रम पैदा करके भगवान् रामको सिंहासनपर नहीं बैठने दिया तो इसको भगवान्ने अपराध नहीं माना। परन्तु जब देवताओंने भरतजीको भगवान् रामसे न मिलने देनेका विचार किया, तब देवगुरु बृहस्पतिने उनको सावधान करते हुए कहा—

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराधु भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥
लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरबासा॥

(मानस, अयोध्या० २१८। २-३)

शंकरजी भगवान् रामके 'स्वामी' भी हैं, 'दास' भी हैं और 'सखा' भी हैं—**'सेवक स्वामि सखा सिय पी के'** (मानस, बाल० १५। २)। इसलिये शंकरजीसे द्रोह करनेवालेके लिये भगवान् राम कहते हैं—

सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥
संकरप्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥

(मानस, लंका० २। ४, २)

अतः साधकको इस भागवत-अपराधसे बचना चाहिये।

प्रश्न—भागवत-अपराधसे बचनेका उपाय क्या है?

उत्तर—भागवत-अपराधसे बचनेका उपाय है—किसीका भी अपराध न करे अर्थात् किसीका भी तिरस्कार, विरोध, निन्दा, द्वेष, खण्डन न करे। कारण कि कौन भक्त है और कौन भक्त नहीं है—इसकी पहचान नहीं हो सकती।

हमारे द्वारा किसीका भी तिरस्कार, विरोध न हो—इसके लिये सबमें भगवद्भाव करना ही एकमात्र निरापद साधन है। कारण कि किसीका भी तिरस्कार, विरोध करनेसे सबमें भगवद्भाव नहीं हो सकता—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(मानस, उत्तर० ११२ ख)

~~~o~~~
~~~

२. भक्तिकी श्रेष्ठता

ज्ञान और भक्ति—दोनों ही संसारका दुःख दूर करनेमें समान हैं; परन्तु दोनोंमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी महिमा अधिक है। ज्ञानमें तो अखण्डरस है, पर भक्तिमें अनन्तरस है। अनन्तरसमें लहरोंवाला, उछालवाला एक बहुत विलक्षण आनन्द है। जैसे संसारमें किसी वस्तुका ज्ञान होता है कि ये रुपये हैं, यह घड़ी आदि है तो यह ज्ञान अज्ञान (अनजानपने)-को मिटाता है, ऐसे ही तत्त्वका ज्ञान अज्ञानको मिटाता है। अज्ञान मिटनेसे दुःख, भय, जन्म-मरणरूप बन्धन—ये सब मिट जाते हैं। ये दुःख, भय आदि सब अज्ञानसे ही उत्पन्न होते हैं। जैसे रातके अँधेरेमें मनुष्य पहचानवाली जगहपर भी धीरे-धीरे चलता है कि कहीं ठोकर न लग जाय। परन्तु प्रकाश होनेपर उसको ठोकर लगनेका भय नहीं होता और वह दौड़कर भी चला जाता है। ऐसे ही अज्ञानान्धकारमें दुःख, भय, सन्ताप आदि होते हैं और ज्ञान होते ही वे मिट जाते हैं। परन्तु प्रेम ज्ञानसे भी विलक्षण है। जैसे 'यह घड़ी है'—ऐसा ज्ञान हो गया तो अनजानपना मिट गया। परन्तु घड़ी पानेकी लालसा हो जाय तो घड़ी मिलनेपर एक विशेष रस आता है। 'ये रुपये हैं'—ऐसा ज्ञान हो गया, पर उनको पानेका लोभ हो जाय कि 'और मिले, और मिले' तो उसमें एक विशेष रस आता है। ऐसे ही भक्तिमें एक विशेष रस आता है कि और अधिक कीर्तन हो, और अधिक पदगान हो, और अधिक भगवच्चर्चा हो। जैसे रुपयोंमें लोभ होता है—'**जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई**', ऐसे ही भगवान्‌में प्रेम होता है—'**दिने दिने नवं नवं नमामि नन्दसम्भवम्**'। लोभ (संसारमें आकर्षण) और प्रेम (भगवान्‌में आकर्षण)—दोनोंमें बड़ा अन्तर है। लोभमें दुःख बढ़ता है और प्रेममें आनन्द

बढ़ता है। लोभमें कामना, आसक्ति बढ़ती है और प्रेममें त्याग, उपरति बढ़ती है। संसारमें आकर्षण तो दोषोंके कारण होता है, पर भगवान्‌में आकर्षण निर्दोषताके कारण होता है।

ज्ञान कोई निरर्थक या मामूली चीज नहीं है—'**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**' (गीता ४। ३८) 'इस मनुष्यलोकमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला दूसरा कोई साधन नहीं है।' ज्ञान अज्ञानको मिटा देता है, शान्ति देता है, मुक्ति देता है। परन्तु ज्ञानमें शान्त, अखण्डरस रहता है, जबकि भक्तिमें प्रतिक्षण वर्धमान, अनन्तरस रहता है। वह रस कभी समाप्त नहीं होता, निरन्तर बढ़ता ही रहता है। कारण कि प्रेम होनेपर भी उसमें एक विलक्षण कमी रहती है, जिसको 'नित्यवियोग' कहते हैं। उस नित्यवियोगसे प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है। जैसे कीर्तनमें जब रस आने लगता है, तब 'और रस लें, और रस लें'—ऐसा भाव होता है। पहलेवाला रस कम होता है, तभी 'और रस लें' यह भाव होता है। अतः पहलेवाले रसका वियोग है और आगे-वाले रसका योग है। प्रेममें यह वियोग और योग नित्य चलते रहते हैं, इसलिये इसको नित्यवियोग और नित्ययोग कहते हैं।

ज्ञान होनेपर फिर ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रहती, पर प्रेम होनेपर भी प्रेमकी आवश्यकता रहती है। कारण कि ज्ञानमें तो तृप्ति हो जाती है—'**आत्मतृप्तश्च मानवः**' (गीता ३। १७), पर प्रेममें तृप्ति नहीं होती। रामायणमें आया है—

राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

(मानस, उत्तर० ५३। १)

जो भगवान्‌की लीला सुनकर तृप्त हो जाते हैं, उनको सुननेमें रस तो आता है, पर उन्होंने विशेष रस नहीं जाना है। विशेष रस जाननेसे क्या होता है?

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥

(मानस, अयोध्या० १२८। २-३)

अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं कि आपके अमृतमय वचन सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है—'**भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्**' (गीता १०। १८)। महाराज पृथु भगवान्‌से वर माँगते हैं कि आप मेरेको दस हजार कान दे दीजिये, जिनसे मैं आपकी लीलाओंको सुनता रहूँ—'**विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः**' (श्रीमद्भा० ४। २०। २४)। सुननेपर भी तृप्ति नहीं होती—यह 'नित्यवियोग' है और सुननेमें रस आता है—यह 'नित्ययोग' है।

प्रेमका एक ऐसा रस है, जिसमें विलक्षणता, विचित्रता आती ही रहती है। कहाँतक आती है—इसका कोई अन्त ही नहीं है! ज्ञानमें तो अपने स्वरूपका बोध होता है, पर प्रेममें निरन्तर भगवान्‌की तरफ खिंचाव होता है, भगवान् प्यारे लगते हैं, मीठे लगते हैं। हर समय भगवान्‌की कथा सुनते ही रहें, उनकी चर्चा होती ही रहे, उनका चिन्तन होता ही रहे, उनके पद गाते ही रहें—यह प्रेमका विशेष रस है। जैसे लोभीके भीतर धनकी लालसा रहती है, ऐसे ही प्रेमीके भीतर प्रेमकी लालसा रहती है।

ज्ञानमें प्रकृतिके सिवाय कुछ नहीं है[१] और भक्तिमें भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है[२]। ज्ञानमार्गमें तो प्रकृति त्याज्य होती है, पर भक्तिमार्गमें त्याज्य वस्तु कोई है ही नहीं! ज्ञान (विवेक)-में सत् और असत्, जड और चेतन, नित्य और अनित्य, सार और असार

---

१. न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ (गीता १८। ४०)

२. यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ (गीता १०। ३९)

आदि दो वस्तुएँ रहती हैं; परन्तु भक्तिमें एक भगवान् ही रहते हैं। इसलिये भगवान्ने 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इसका अनुभव करनेवाले महात्माको अत्यन्त दुर्लभ बताया है—'**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः**' (गीता ७। १९), जबकि ज्ञानीको भगवान्ने दुर्लभ नहीं बताया है।

ज्ञानकी दृष्टिसे भगवान् कहते हैं—'**न सत्तन्नासदुच्यते**' (गीता १३। १२) 'उस परमात्मतत्त्वको न सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है।' भक्तिकी दृष्टिसे भगवान् कहते हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९) 'हे अर्जुन! सत् और असत् भी मैं ही हूँ।' इसलिये भक्त सब जगह भगवान्को ही देखता है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(मानस, किष्किन्धा० ३)

सब भगवान् ही हैं—ऐसा भाव होते-होते फिर मैं-पन भी मिट जाता है और एक परमात्मा-ही-परमात्मा रह जाते हैं।

तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित तू॥

मैं-तू-यह-वह कुछ नहीं रहता, केवल भगवान् ही रहते हैं। ज्ञानमें भी मैं-तू-यह-वह कुछ नहीं रहता, एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म रह जाता है। परन्तु ज्ञानका आनन्द शान्त, अखण्ड, एकरस रहता है। भक्तिका आनन्द बढ़ता रहता है। प्रेमका स्वभाव ही बढ़ना है। जैसे उबलते हुए दूधमें उछाल आता रहता है, ऐसे ही भक्तिके आनन्दमें उछाल आता रहता है। भगवान् रामको देखकर तत्त्वज्ञानी राजा जनक कहते हैं—

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥

(मानस, अयोध्या० १२८। २-३)

अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं कि आपके अमृतमय वचन सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है—'**भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्**' (गीता १०। १८)। महाराज पृथु भगवान्‌से वर माँगते हैं कि आप मेरेको दस हजार कान दे दीजिये, जिनसे मैं आपकी लीलाओंको सुनता रहूँ—'**विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः**' (श्रीमद्भा० ४। २०। २४)। सुननेपर भी तृप्ति नहीं होती—यह 'नित्यवियोग' है और सुननेमें रस आता है—यह 'नित्ययोग' है।

प्रेमका एक ऐसा रस है, जिसमें विलक्षणता, विचित्रता आती ही रहती है। कहाँतक आती है—इसका कोई अन्त ही नहीं है! ज्ञानमें तो अपने स्वरूपका बोध होता है, पर प्रेममें निरन्तर भगवान्‌की तरफ खिंचाव होता है, भगवान् प्यारे लगते हैं, मीठे लगते हैं। हर समय भगवान्‌की कथा सुनते ही रहें, उनकी चर्चा होती ही रहे, उनका चिन्तन होता ही रहे, उनके पद गाते ही रहें—यह प्रेमका विशेष रस है। जैसे लोभीके भीतर धनकी लालसा रहती है, ऐसे ही प्रेमीके भीतर प्रेमकी लालसा रहती है।

ज्ञानमें प्रकृतिके सिवाय कुछ नहीं है[१] और भक्तिमें भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है[२]। ज्ञानमार्गमें तो प्रकृति त्याज्य होती है, पर भक्तिमार्गमें त्याज्य वस्तु कोई है ही नहीं! ज्ञान (विवेक)-में सत् और असत्, जड और चेतन, नित्य और अनित्य, सार और असार

---

१. न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥ (गीता १८। ४०)

२. यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ (गीता १०। ३९)

आदि दो वस्तुएँ रहती हैं; परन्तु भक्तिमें एक भगवान् ही रहते हैं। इसलिये भगवान्ने 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इसका अनुभव करनेवाले महात्माको अत्यन्त दुर्लभ बताया है—'**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः**' (गीता ७। १९), जबकि ज्ञानीको भगवान्ने दुर्लभ नहीं बताया है।

ज्ञानकी दृष्टिसे भगवान् कहते हैं—'**न सत्तन्नासदुच्यते**' (गीता १३। १२) 'उस परमात्मतत्त्वको न सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है।' भक्तिकी दृष्टिसे भगवान् कहते हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९) 'हे अर्जुन! सत् और असत् भी मैं ही हूँ।' इसलिये भक्त सब जगह भगवान्को ही देखता है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(मानस, किष्किन्धा० ३)

सब भगवान् ही हैं—ऐसा भाव होते-होते फिर मैं-पन भी मिट जाता है और एक परमात्मा-ही-परमात्मा रह जाते हैं।

तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित तू॥

मैं-तू-यह-वह कुछ नहीं रहता, केवल भगवान् ही रहते हैं। ज्ञानमें भी मैं-तू-यह-वह कुछ नहीं रहता, एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म रह जाता है। परन्तु ज्ञानका आनन्द शान्त, अखण्ड, एकरस रहता है। भक्तिका आनन्द बढ़ता रहता है। प्रेमका स्वभाव ही बढ़ना है। जैसे उबलते हुए दूधमें उछाल आता रहता है, ऐसे ही भक्तिके आनन्दमें उछाल आता रहता है। भगवान् रामको देखकर तत्त्वज्ञानी राजा जनक कहते हैं—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा ॥

(मानस, बाल० २१६। ३)

'ब्रह्मसुख' में अखण्डरस है और 'अति अनुराग' में अनन्तरस है। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञान, मुक्ति होनेपर भी स्वयंकी भूखका अत्यन्त अभाव नहीं होता, प्रत्युत स्वयंमें अनन्तरसकी भूख रहती है।

मुक्ति तो कर्मयोगीकी भी हो जाती है। जो ईश्वरको नहीं मानते, उनकी भी मुक्ति हो जाती है। जैन–सम्प्रदायमें भी मोक्षशिलाकी मान्यता है, जहाँ मुक्त पुरुष जाते हैं। अतः ईश्वरको न माननेपर भी मुक्ति अथवा ज्ञान तो हो सकता है, पर प्रेम होना असम्भव ही है। प्रेम बहुत विलक्षण है। भगवान् भी प्रेमीके वशमें होते हैं— '**अहं भक्तपराधीनः**', ज्ञानीके वशमें नहीं होते। भगवान्‌ने तो सबको विवेकज्ञान दिया हुआ है, जिससे वे मुक्त होकर, जडतासे ऊँचे उठकर मेरे प्रेमी बन जायँ। भगवान् ज्ञानस्वरूप और नित्य परिपूर्ण हैं; अतः उनमें ज्ञानकी भूख (जिज्ञासा) नहीं है, पर प्रेमकी भूख (प्रेम–पिपासा) अवश्य है! इसलिये भगवान् कहते हैं—

'**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः**' (गीता १२। १४)

'मेरेमें अर्पित मन–बुद्धिवाला जो मेरा भक्त है, वह मेरेको प्रिय है।'

'**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः**' (गीता ७। १७)

'ज्ञानी (प्रेमी) भक्तको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह भी मेरेको अत्यन्त प्रिय है।'

'**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु**' (गीता ९। ३४, १८। ६५)

'तू मेरा भक्त हो जा, मेरेमें मनवाला हो जा, मेरा पूजन करनेवाला हो जा और मेरेको नमस्कार कर।'

'**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**' (गीता १८। ६६)

'सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा।'

तत्त्वज्ञान देकर भगवान् भी तृप्त हो जाते हैं और ज्ञानी भी तृप्त हो जाता है। परन्तु प्रेम देकर न भगवान् तृप्त होते हैं, न भक्त! प्रेमी भक्तके लिये कुछ भी कर्तव्य, ज्ञातव्य और प्राप्तव्य बाकी न रहनेपर भी उसमें प्रेम निरन्तर बढ़ता रहता है, मिलनकी लालसा नित्य रहती है, ऐसे ही भगवान्‌में भी प्रेम निरन्तर बढ़ता रहता है, तभी वे बार-बार अवतार लेकर तरह-तरहकी लीलाएँ करते हैं। तात्पर्य है कि भक्त और भगवान्—दोनोंमें ही प्रेमकी भूख रहती है। नारदजी कहते हैं—**'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'** (भक्तिसूत्र ४१) 'भगवान्‌में और उनके भक्तमें भेद नहीं है।'

भगवान्‌की माया दुनियाको मोहित करती है, पर भक्तकी माया भगवान्‌को भी मोहित कर देती है! जैसे, बालकका मोह माँको वशमें कर लेता है; क्योंकि वह और किसीका न होकर माँका होता है। ऐसे ही भक्त भगवान्‌का होकर उनको अपने वशमें कर लेता है। भगवान् कहते हैं—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता॥
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥

(मानस, अरण्य० ४३। २—५)

भगवान्‌के छोटे बालक भक्त हैं और बड़े बालक ज्ञानी। जैसे माँको छोटे-बड़े सभी बालक प्रिय लगते हैं, पर वह सँभाल

छोटेकी ही करती है, बड़ेकी नहीं; क्योंकि छोटा बालक सर्वथा माँके ही आश्रित रहता है। ऐसे ही भगवान् अपने आश्रित भक्तकी पूरी सँभाल करते हैं। भगवान् स्वयं अपने भक्तके योग (अप्राप्तकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्तकी रक्षा)-का वहन करते हैं*। परन्तु ज्ञानीके योग और क्षेमका वहन कौन करे? इसलिये ज्ञानी तो योगभ्रष्ट हो सकता है, पर भक्त योगभ्रष्ट नहीं हो सकता। ज्ञानीका तो ज्ञानमें कमी रहनेसे पतन हो सकता है, पर भक्तका पतन नहीं हो सकता—**'न मे भक्तः प्रणश्यति'** (गीता ९। ३१)।

'न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्'

(महा० अनु० १४९। १३१)

'भगवान्‌के भक्तोंका कहीं कभी भी अशुभ नहीं होता।'

सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥

(मानस, बाल० १२६। ४)

इसलिये भगवान् गीतामें कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(७। १४)

'मेरी यह गुणमयी दैवी माया बड़ी दुरत्यय है अर्थात् इससे पार पाना बड़ा कठिन है। परन्तु जो केवल मेरी ही शरण होते हैं; वे इस मायाको तर जाते हैं।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(१२। ७)

---

* अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ (गीता ९। २२)

'हे पार्थ! मेरेमें आविष्ट चित्तवाले उन भक्तोंका मैं मृत्युरूप संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ।'

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि। (१८। ५८)

'मेरेमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा।'

ब्रह्मादि देवता भगवान्‌से कहते हैं—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥

(श्रीमद्भा० १०। २। ३२)

'हे कमलनयन! जो लोग आपके चरणोंकी शरण नहीं लेते और आपकी भक्तिसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको मुक्त तो मानते हैं, पर वास्तवमें वे बद्ध ही हैं। वे यदि कष्टपूर्वक साधन करके ऊँचे-से-ऊँचे पदपर भी पहुँच जायँ, तो भी वहाँसे नीचे गिर जाते हैं।'

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥

(श्रीमद्भा० १०। २। ३३)

'परन्तु भगवन्! जो आपके भक्त हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी उन ज्ञानाभिमानियोंकी तरह अपने साधनसे गिरते नहीं। प्रभो! वे बड़े-बड़े विघ्न डालनेवाली सेनाके सरदारोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय होकर विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकता।'

भगवान्‌की स्तुति करते हुए वेद कहते हैं—

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे॥

(मानस, उत्तर० १३। ३)

इसलिये भगवान् कहते हैं—

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १८)

'उद्धवजी! मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसारके विषय बार-बार उसे बाधा पहुँचाते रहते हैं, अपनी ओर खींचते रहते हैं, वह भी प्रतिक्षण बढ़नेवाली मेरी भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंसे पराजित नहीं होता।'

भक्त जितेन्द्रिय न हो सके तो भी भगवान् उसका पतन नहीं होने देते। परन्तु ज्ञानी जितेन्द्रिय न हो तो उसका पतन हो जाता है; क्योंकि उसकी रक्षा करनेवाला कोई है नहीं—

यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः।
ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति॥
सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते मां च धर्महा।
अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते॥

(श्रीमद्भा० ११। १८। ४०-४१)

'जिसने पाँच इन्द्रियाँ और मन—इन छहोंपर विजय नहीं प्राप्त की है, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े और बुद्धिरूपी सारथि बिगड़े हुए हैं और जिसके हृदयमें न ज्ञान है, न वैराग्य है, वह यदि त्रिदण्डी संन्यासीका वेष धारण करके पेट पालता है तो वह संन्यास-धर्मका सत्तानाश ही कर रहा है और अपने पूज्य

देवताओंको, अपने-आपको और अपने हृदयमें स्थित मुझको ठगनेकी चेष्टा करता है। अभी उस वेषमात्रके संन्यासीकी वासनाएँ क्षीण नहीं हुई हैं, इसलिये वह इस लोक और परलोक दोनोंसे हाथ धो बैठता है।'

तात्पर्य है कि भगवान्‌का अनादर और अपना अभिमान होनेके कारण ज्ञानमार्गीका पतन हो जाता है। यद्यपि अभिमानके कारण भक्तिमार्गीका भी पतन हो सकता है, तथापि भगवन्निष्ठ होनेके कारण भगवान् उसको सँभाल लेते हैं। कारण कि भक्तमें तो भगवान्‌का बल (आश्रय) रहता है, पर ज्ञानीमें अपना बल रहता है—*'जनहि मोर बल निज बल ताही'* (मानस, अरण्य० ४३।५)। अतः भक्तकी रक्षा तो भगवान् कर देते हैं, पर ज्ञानीकी रक्षा कौन करे? इसलिये ब्रह्माजी भगवान्‌से कहते हैं—

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ४)

'भगवन्! जैसे थोथी भूसी कूटनेवालेको श्रमके सिवाय और कुछ हाथ नहीं लगता, ऐसे ही जो मनुष्य कल्याणके मार्गरूप आपकी भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञान-प्राप्तिके लिये क्लेश उठाते हैं, उनको क्लेशके सिवाय और कुछ हाथ नहीं लगता!'

ज्ञानमार्गमें 'विवेक' मुख्य है और भक्तिमार्गमें 'विश्वास' मुख्य है। विवेकमें अपनी बुद्धिकी प्रधानता है, पर विश्वासमें भगवान्‌के आश्रयकी प्रधानता है। विवेकमें तो सत् और असत्, आत्मा और अनात्मा दो हैं, पर विश्वासमें दो नहीं हैं। भक्तिमार्गमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरेका विश्वास ही नहीं है। एक

व्रजवासी भक्तसे किसी साधुने कहा कि हम तो कन्हैयाके अनन्य भक्त हैं, तुम क्या हो? वह भक्त बोला कि हम तो कन्हैयाके फनन्य भक्त हैं। साधुने पूछा कि फनन्य भक्त क्या होता है भाई? वह बोला कि पहले आप बताओ कि अनन्य भक्त क्या होता है? साधुने कहा कि जो सूर्य, शक्ति, गणेश, शिव, ब्रह्मा आदि किसीको भी नहीं मानता, केवल कन्हैयाको ही मानता है, वह अनन्य भक्त होता है। भक्तने कहा कि बाबाजी, हम तो इन ससुरोंका नाम भी नहीं जानते कि ये कौन होते हैं, इसलिये हम फनन्य भक्त हो गये!

अपरा (जगत्) और परा (जीव)—दोनों प्रकृतियाँ परमात्माकी हैं*। प्रकृति तो परमात्माकी है, पर परमात्मा प्रकृतिके नहीं हैं। जैसे, दियासलाईमें अग्नि तो रहती है, पर उसकी प्रकाशिका और दाहिका शक्ति नहीं रहती; अतः शक्तिके बिना अग्नि रह सकती है, पर अग्निके बिना शक्ति नहीं रह सकती। ऐसे ही प्रकृति (परा-अपरा)-के बिना परमात्मा रह सकते हैं, पर परमात्माके बिना प्रकृति नहीं रह सकती। शक्तिमान् शक्तिके अधीन नहीं है, जबकि शक्ति शक्तिमान्के अधीन है। अतः जीव और जगत्—दोनों परमात्माके अधीन हैं—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।

(श्वेताश्वतर० १। १०)

क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

(श्वेताश्वतर० ५। १)

---

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

(गीता ७। ४-५)

तात्पर्य है कि आत्मा मुख्य नहीं है, प्रत्युत परमात्मा मुख्य हैं। विवेकसे आत्माका बोध (आत्मज्ञान) होता है और विश्वाससे परमात्माका बोध (परमात्मज्ञान) होता है। इसलिये विवेकसे भी विश्वास तेज है।

मनुष्यमें तीन शक्तियाँ हैं—करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और माननेकी शक्ति। प्राप्त करनेकी शक्ति मनुष्यमें नहीं है। प्राप्ति परमात्माकी ही होती है। करने और जाननेकी शक्तिसे प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और स्वरूपका बोध होता है। परन्तु माननेकी शक्तिसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये माननेकी शक्ति अर्थात् विश्वास क्रियाशक्ति और विवेकशक्तिसे भी तेज है।

विश्वास वास्तवमें वही है, जो अविनाशी, अपरिवर्तनशील वस्तुपर हो। नाशवान्, परिवर्तनशील वस्तुपर विश्वास करना विश्वासका महान् दुरुपयोग है। नाशवान् वस्तुपर विश्वास करके ही जीव जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ा है। अतः नाशवान् वस्तुपर विश्वास महान् घातक है। विश्वास-मार्ग (भक्ति)-में नाशवान्‌की आसक्ति मिटानेके लिये विवेक बहुत सहायक है। नाशवान्‌का विश्वास विवेक-विरुद्ध है। विवेक-विरुद्ध विश्वास रद्दी हो जाता है। अतः विश्वास विवेक-विरुद्ध नहीं होना चाहिये।

ज्ञानमें स्वरूप मुख्य है और भक्तिमें भगवान् मुख्य हैं। इसलिये ज्ञानी स्वरूपमें स्थित होता है—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता १४।२४) और भक्त भगवान्‌में स्थित होता है—'**निवसिष्यसि मय्येव**' (गीता १२।८)। स्वरूपमें स्थित होनेमें अखण्डरस है और परमात्मामें स्थित होनेमें प्रतिक्षण वर्धमान अनन्तरस है।

ज्ञानीको भक्ति प्राप्त हो जाय, यह नियम नहीं है, पर भक्तको ज्ञानकी प्राप्ति भी हो जाती है, यह नियम है। यद्यपि भक्तको ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है और वह भगवान्‌के चिन्तनमें, प्रेममें

मस्त रहता है—'**तुष्यन्ति च रमन्ति च**' (गीता १०। ९), तथापि उसमें किसी प्रकारकी कमी न रहे, इसलिये भगवान् अपनी तरफसे उसको ज्ञान प्रदान करते हैं*। रामायणमें आया है—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

(मानस, अरण्य० ३६। ५)

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

(मानस, उत्तर० ११९। २)

जैसे भक्तिमार्गमें प्रेम बढ़ता रहता है, ऐसे ही ज्ञानमार्गमें ज्ञानकी भूमिका बढ़ती रहती है। इसलिये चतुर्थ भूमिकामें ज्ञान-प्राप्ति होनेपर भी आगे पाँचवीं, छठी और सातवीं भूमिका होती है। वास्तवमें देखा जाय तो ज्ञान नहीं बढ़ता, प्रत्युत अज्ञान मिटता है। अतः भूमिकाएँ ज्ञानकी नहीं होतीं, प्रत्युत अज्ञानकी होती हैं। ज्यों-ज्यों जडता मिटती है, त्यों-त्यों भूमिका बढ़ती जाती है। परन्तु प्रेमका बढ़ना और तरहका है। ज्ञानमें तो संसारसे उपरति मुख्य है, पर भक्तिमें भगवान्‌की ओर आकर्षण मुख्य है। ज्ञानमें तो असत्‌का त्याग करनेपर भी असत्‌की मानी हुई सूक्ष्म सत्ता (अहम्) साथ रहती है, पर भक्तिमें प्रेम बढ़नेपर असत् स्वतः छूट जाता है—संसारकी याद ही नहीं रहती अर्थात् ज्ञानकी छठी भूमिका 'पदार्थाभावना' स्वतःसिद्ध हो जाती है।

विवेकमें सत् और असत्—दोनों रहते हैं, इसलिये ज्ञानमार्गमें अहम् दूरतक साथ रहता है, जिससे चतुर्थ भूमिकामें तत्त्वज्ञान होनेपर भी पाँचवीं, छठी और सातवीं भूमिका होती है। सूक्ष्म अहम् रहनेके कारण ही दर्शन और दार्शनिकोंमें भेद रहता है;

---

* तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता १०। ११)

'उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूप (होनेपन)-में रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा सर्वथा नष्ट कर देता हूँ।'

क्योंकि अहम् भेदका जनक है। ज्ञानमार्गमें असत्का निषेध करते हैं, जिससे असत्की सत्ता आती है; क्योंकि असत्की सत्ता स्वीकार की है, तभी तो निषेध करते हैं! इसलिये विवेकमार्ग (ज्ञान)-में तो द्वैत है, पर विश्वासमार्ग (भक्ति)-में अद्वैत है। असत्से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद अर्थात् अहम्का सर्वथा अभाव प्रेम प्राप्त होनेपर ही होता है। गोस्वामीजी कहते हैं—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

अहम्का सर्वथा अभाव होनेपर दर्शन और दार्शनिकोंमें भेद नहीं रहता, प्रत्युत '**वासुदेवः सर्वम्**' रहता है।

अध्यास या भ्रम दो प्रकारका होता है—उपाधिसहित और उपाधिरहित। जैसे, दर्पणमें मुखका भ्रम उपाधिसहित है; क्योंकि 'दर्पणमें मुख नहीं है'—इस तरह भ्रमकी निवृत्ति होनेपर भी दर्पणरूपी उपाधि होनेसे दर्पणमें मुख दीखता है। परन्तु रज्जुमें सर्पका भ्रम उपाधिरहित है; क्योंकि 'यह सर्प नहीं है'—इस तरह भ्रमकी निवृत्ति होनेपर फिर सर्प नहीं दीखता, प्रत्युत रज्जु ही दीखती है। ज्ञानमें 'उपाधिसहित भ्रम' मिटता है; अतः संसार तो दीखता है, पर उसमें आकर्षण नहीं होता। परन्तु भक्तिमें 'उपाधिरहित भ्रम' मिटता है; अतः संसार नहीं दीखता, प्रत्युत केवल भगवान् ही दीखते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**'। इसलिये भगवान्ने ज्ञानियोंकी अपेक्षा भक्तोंको श्रेष्ठ बताया है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(गीता १२। २)

'मेरेमें मनको लगाकर नित्य-निरन्तर मेरेमें लगे हुए जो भक्त परम श्रद्धासे युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।'

~~~०~~~
~~~

३. अनिर्वचनीय प्रेम

जो मनुष्य संसारसे दुःखी होकर ऐसा सोचता है कि कोई तो अपना होता, जो मुझे अपनी शरणमें लेकर, अपने गले लगाकर मेरे दुःख, सन्ताप, पाप, अभाव, भय, नीरसता आदिको हर लेता, उसको भगवान् अपनी भक्ति प्रदान करते हैं। परन्तु जो मनुष्य केवल संसारके दुःखोंसे मुक्त होना चाहता है, पराधीनतासे छूटकर स्वाधीन होना चाहता है, उसको भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं। मुक्त होनेपर वह 'स्व' में स्थित हो जाता है—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता १४। २४)। 'स्व' में स्थित होनेपर 'स्व'-पना अर्थात् व्यक्तित्वका सूक्ष्म अहंकार रह जाता है, जिसके कारण उसको 'अखण्ड आनन्द' का अनुभव होता है। जीव परमात्माका अंश है। अंशका अंशीकी तरफ स्वतः आकर्षण होता है। अतः 'स्व' में स्थित अर्थात् मुक्त होनेके बाद जब उसको मुक्तिमें भी सन्तोष नहीं होता, तब 'स्व' का 'स्वकीय' (परमात्मा)-की तरफ स्वतः आकर्षण होता है। कारण कि मुक्त होनेपर जीवके दुःखोंका अन्त और जिज्ञासाकी पूर्ति तो हो जाती है, पर प्रेम-पिपासा शान्त नहीं होती। तात्पर्य है कि प्रेमकी जागृतिके बिना स्वयंकी भूखका अत्यन्त अभाव नहीं होता। स्वकीयकी तरफ आकर्षण होनेसे अर्थात् प्रेम जाग्रत् होनेसे अखण्ड आनन्द 'अनन्त आनन्द' में बदल जाता है और व्यक्तित्वका सर्वथा नाश हो जाता है।

मुक्त होनेसे पहले जीव और भगवान्‌में जो भेद होता है, वह बन्धनमें डालनेवाला होता है, पर मुक्त होनेके बाद जीव (प्रेमी) और भगवान् (प्रेमास्पद)-में जो प्रेमके लिये स्वीकृत भेद होता है, वह अनन्त आनन्द देनेवाला होता है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

(बोधसार, भक्ति० ४२)

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहमें डाल सकता है, पर बोध हो जानेपर भक्तिके लिये कल्पित अर्थात् स्वीकृत द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

कारण कि बोधसे पहलेका भेद अहम्के कारण होता है और बोधके बादका (प्रेमकी वृद्धिके लिये होनेवाला) भेद अहम्का नाश होनेपर होता है।

जैसे संसारमें 'किसी वस्तुका ज्ञान होनेपर ज्ञान बढ़ता नहीं, प्रत्युत अज्ञान मिट जाता है, ऐसे ही ज्ञानमार्गमें स्वरूपका ज्ञान होनेपर अज्ञानको मिटाकर ज्ञान खुद भी शान्त हो जाता है और स्व-स्वरूप स्वतः ज्यों-का-त्यों रह जाता है। इसलिये ज्ञानमार्गमें अखण्ड, शान्त, एकरस आनन्द मिलता है। परन्तु जैसे संसारमें किसी वस्तुमें आसक्ति होनेपर फिर आसक्ति बढ़ती ही रहती है—*'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'*, ऐसे ही भक्तिमार्गमें भगवान्में प्रेम होनेपर फिर वह प्रेम बढ़ता ही रहता है। इसलिये भक्तिमार्गमें अनन्त, प्रतिक्षण वर्धमान आनन्द मिलता है। तात्पर्य यह हुआ कि आकर्षणमें जो आनन्द है, वह ज्ञानमें नहीं है। सांसारिक वस्तुका ज्ञान तो बाँधता है, पर स्वरूपका ज्ञान मुक्त करता है। इसी तरह सांसारिक वस्तुका आकर्षण तो अपार दुःख देता है, पर भगवान्का आकर्षण अनन्त आनन्द देता है।

अनन्तरसको प्रवाहित करनेवाली प्रेमरूपी नदीके दो तट हैं—नित्यमिलन और नित्यविरह। नित्यमिलनसे प्रेममें चेतना आती है, विशेष विलक्षणता आती है, प्रेमका उछाल आता है और नित्य-विरहसे प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है अर्थात् अपनेमें प्रेमकी कमी

मालूम देनेपर 'प्रेम और बढ़े, और बढ़े' यह उत्कण्ठा होती है।

अरबरात मिलिबे को निसिदिन,
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना।

जैसे धनी आदमीमें तीन चीजें रहती हैं—१. धन, २. धनका नशा अर्थात् अभिमान और ३. धन बढ़नेकी इच्छा। ऐसे ही प्रेमीमें तीन चीजें रहती हैं—१. प्रेम, २. प्रेमकी मादकता, मस्ती और ३. प्रेम बढ़नेकी इच्छा। धनी आदमीमें जो 'धन और बढ़े, और बढ़े'—यह इच्छा रहती है, वह लोभरूपी दोषके बढ़नेसे होती है। परन्तु प्रेमीमें जो 'प्रेम और बढ़े, और बढ़े'—यह इच्छा रहती है, वह अहंता-ममतारूपी दोषोंके मिटनेसे होती है।

अहंता-ममतारूपी दोषोंके मिटनेके बाद जहाँ अहंता (मैं-पन) थी, वहाँ 'नित्यमिलन' प्रकट होता है और जहाँ ममता (मेरा-पन) थी, वहाँ 'नित्यविरह' प्रकट होता है। वास्तवमें नित्यमिलन (नित्ययोग) और नित्यविरह—दोनों जीवमें सदासे विद्यमान हैं, पर भगवान्‌से विमुख होकर संसारके सम्मुख हो जानेसे 'नित्यमिलन' ने अहंताका रूप धारण कर लिया और 'नित्यविरह' ने ममताका रूप धारण कर लिया। अहंता और ममताके पैदा होनेसे प्रेम दब गया और संसारकी आसक्ति या मोह उत्पन्न हो गया। तात्पर्य यह हुआ कि दोषोंके रहनेसे संसारकी आसक्ति बढ़ती है और दोषोंके मिटनेसे शान्ति मिलती है एवं शान्तिमें सन्तोष न करनेसे प्रेम बढ़ता है। संसारमें प्रियता काम-क्रोधादि दोषोंसे होती है, पर भगवान्‌में प्रियता निर्दोषतासे होती है। जबतक अपनेमें थोड़ा भी संसारका आकर्षण है, तबतक प्रेम प्राप्त नहीं हुआ है; क्योंकि प्रेमकी जगह कामने ले ली! प्रेम प्राप्त होनेपर संसारमें किंचिन्मात्र भी आकर्षण नहीं रहता।

प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान तभी होता है, जब उसमें पहली अवस्थाका क्षय और दूसरी अवस्थाका उदय होता है। पहली अवस्थाका त्याग

'नित्यविरह' और दूसरी अवस्थाकी प्राप्ति 'नित्यमिलन' है। वास्तवमें देखा जाय तो प्रेममें क्षय या उदय, त्याग या प्राप्ति है ही नहीं, प्रत्युत प्रेमके नित्य-निरन्तर ज्यों-के-त्यों रहते हुए ही प्रतिक्षण वर्धमान होनेसे उसमें क्षय या उदयकी प्रतीति होती है।

प्रेममें प्रेमीको अपनेमें एक कमीका भान होता है, जिससे उसमें 'प्रेम और बढ़े, और बढ़े' यह लालसा (भूख) होती है। अगर सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो 'और बढ़े, और बढ़े' इस लालसामें प्रेमकी प्राप्ति भी है और कमी भी! कमी नहीं है, फिर भी कमी दीखती है। इसलिये प्रेमको अनिर्वचनीय कहा गया है—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्।

(नारद० ५१-५२)

आनन्द भी आये और कमी भी दीखे—यह प्रेमकी अनिर्वचनीयता है।

जो पूर्णताको प्राप्त हो गये हैं, जिनके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहा, ऐसे महापुरुषोंमें भी प्रेमकी भूख रहती है। उनका भगवान्‌की तरफ स्वतः-स्वाभाविक खिंचाव होता है। इसलिये भगवान् '**आत्मारामगणाकर्षी**' कहलाते हैं। सनकादि मुनि ***'ब्रह्मानंद सदा लयलीना'*** होते हुए भी भगवल्लीला-कथा सुनते रहते हैं—

आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥

(मानस, उत्तर० ३२। ३)

जब वे वैकुण्ठधाममें गये, तब वहाँ भगवान्‌के चरणकमलोंकी दिव्य गन्धसे उनका स्थिर चित्त भी चंचल हो उठा—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

(श्रीमद्भा० ३। १५। ४३)

'प्रणाम करनेपर उन कमलनेत्र भगवान्‌के चरण-कमलके परागसे मिली हुई तुलसी-मंजरीकी वायुने उनके नासिका-छिद्रोंमें प्रवेश करके उन अक्षर परमात्मामें नित्य स्थित रहनेवाले ज्ञानी महात्माओंके भी चित्त और शरीरको क्षुब्ध कर दिया।'

भगवान् श्रीरामको देखकर तत्त्वज्ञानी जनक भी कह उठे—

सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(मानस, बाल० २१६। २-३)

सर्वथा पूर्ण होते हुए भी भगवान् शंकरके मनमें भगवल्लीला सुनानेकी लालसा होती है और जगज्जननी पार्वतीके मनमें सुननेकी लालसा होती है। भगवान् शंकर कैलासको छोड़कर यशोदाजीके पास आते हैं और प्रार्थना करते हैं कि मैया! एक बार अपने लालाका मुख तो दिखा दे! जब वे सतीजीके साथ कैलास जा रहे थे, तब भी मार्गमें भगवान् श्रीरामका दर्शन करके उनकी विचित्र दशा हो गयी—

सतीं सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेषी॥
संकरु जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥
तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा॥
भए मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥

(मानस, बाल० ५०। ३—६)

इस प्रकार सनकादि, जनक, भगवान् शंकर आदि सभीका स्वाभाविक ही भगवान्‌की तरफ खिंचाव होता है। इस खिंचावका नाम ही प्रेम है। श्रीमद्भागवतमें आया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(१। ७। १०)

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चिज्जडग्रन्थि कट गयी है, ऐसे

आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की निष्काम भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेते हैं।'

कोई कमी भी न हो और प्रेमकी भूख भी हो—यह प्रेमकी अनिर्वचनीयता है। सत्संगमें लगे हुए साधकोंका यह अनुभव भी है कि प्रतिदिन सत्संग सुनते हुए, भगवान्‌की लीलाएँ सुनते हुए, भजन-कीर्तन करते और सुनते हुए भी न तो उनसे तृप्ति होती है और न उनको छोड़नेका मन ही करता है। उनमें प्रतिदिन नया-नया रस मिलता है, जिसमें भूतकालका रस फीका दीखता है और वर्तमानका रस विलक्षण दीखता है*। इस प्रकार प्रेममें पूर्णता भी है और अभाव भी है—यह प्रेमकी अनिर्वचनीयता है।

ज्ञानमें तो स्वरूपमें स्थिति होती है, जिससे ज्ञानीको सन्तोष हो जाता है—'**आत्मन्येव च सन्तुष्टः**' (गीता ३। १७); परन्तु प्रेममें न स्थिति होती है और न सन्तोष होता है, प्रत्युत नित्य-निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

वास्तवमें प्रेमका निर्वचन (वर्णन) किया ही नहीं जा सकता। अगर उसका निर्वचन कर दें तो फिर वह अनिर्वचनीय कैसे रहेगा?

डूबै सो बोलै नहीं, बोलै सो अनजान।
गहरो प्रेम-समुद्र कोउ डूबै चतुर सुजान॥

भगवान्‌के ही समग्ररूपका एक अंश अथवा ऐश्वर्य ब्रह्म है—'**ते ब्रह्म तद्विदुः**' (गीता ७। २९), '**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**' (गीता १४। २७)। समग्ररूप (**समग्रम्**) विशेषण है और भगवान् (**माम्**) विशेष्य हैं—'**असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि**

---

* राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥
जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥
(मानस, उत्तर० ५३। १)

तच्छृणु' (गीता ७। १)। इसी तरह भगवान्‌ने अधियज्ञ (अन्तर्यामी)-को भी अपना स्वरूप बताया है—'**अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे**' (गीता ८। ४)। अतः ब्रह्म विशेषण है और अन्तर्यामी भगवान् विशेष्य हैं। इसलिये ज्ञानीका सम्बन्ध विशेषणके साथ होता है और भक्तका सम्बन्ध विशेष्यके साथ होता है। दूसरे शब्दोंमें, ज्ञानीका सम्बन्ध ऐश्वर्यके साथ होता है और भक्तका सम्बन्ध ऐश्वर्यवान्‌के साथ होता है।

ज्ञानीकी तो ब्रह्मसे 'तात्त्विक एकता' होती है, पर भक्तकी भगवान्‌के साथ 'आत्मीय एकता' होती है। इसलिये भगवान् कहते हैं—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८) 'ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है—ऐसा मेरा मत है।' यहाँ 'ज्ञानी' शब्द तत्त्वज्ञानीके लिये नहीं आया है, प्रत्युत 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव करनेवाले ज्ञानी अर्थात् शरणागत भक्तके लिये आया है—'**वासुदेवः सर्वम् इति ज्ञानवान् मां प्रपद्यते**' (गीता ७। १९)। ज्ञानी (तत्त्वज्ञानी)-की 'तात्त्विक एकता' में तो जीव और ब्रह्ममें अभेद हो जाता है तथा एक तत्त्वके सिवाय कुछ नहीं रहता। परन्तु भक्तकी 'आत्मीय एकता' में जीव और भगवान्‌में अभिन्नता हो जाती है। अभिन्नतामें भक्त और भगवान् एक होते हुए भी प्रेमके लिये दो हो जाते हैं।

यद्यपि भगवान् सर्वथा पूर्ण हैं, उनमें किंचिन्मात्र भी अभाव नहीं है, फिर भी वे प्रेमके भूखे हैं—'**एकाकी न रमते**' (बृहदारण्यक० १। ४। ३)। इसलिये भगवान् प्रेम-लीलाके लिये श्रीजी और कृष्णरूपसे दो हो जाते हैं—

येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्।

(राधातापनीयोपनिषद्)

वास्तवमें श्रीजी कृष्णसे अलग नहीं होतीं, प्रत्युत कृष्ण ही

प्रेमकी वृद्धिके लिये श्रीजीको अलग करते हैं। तात्पर्य है कि प्रेमकी प्राप्ति होनेपर भक्त भगवान्‌से अलग नहीं होता, प्रत्युत भगवान् ही प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमके लिये भक्तको अलग करते हैं। इसलिये प्रेम प्राप्त होनेपर भक्त और भगवान्—दोनोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। दोनों ही एक-दूसरेके भक्त और दोनों ही एक-दूसरेके इष्ट होते हैं। तत्त्वज्ञानसे पहलेका भेद (द्वैत) तो अज्ञानसे होता है, पर तत्त्वज्ञानके बादका (प्रेमका) भेद भगवान्‌की इच्छासे होता है।

अभिन्नता दो होते हुए भी हो सकती है; जैसे बालककी माँसे, सेवककी स्वामीसे, पत्नीकी पतिसे अथवा मित्रकी मित्रसे अभिन्नता होती है। इसलिये भक्तिमें आरम्भसे ही भक्तकी भगवान्‌से अभिन्नता हो जाती है—*'साह ही को गोतु गोतु होत है गुलामको'* (कवितावली, उत्तर० १०७)। कारण कि भक्त अपना अलग अस्तित्व नहीं मानता। उसमें यह भाव रहता है कि भगवान् ही हैं, मैं हूँ ही नहीं।

प्रेममें माधुर्य है। अतः 'प्रभु मेरे हैं' ऐसे अपनापन होनेसे भक्त भगवान्‌का ऐश्वर्य (प्रभाव) भूल जाता है। जैसे, महारानीका बालक उसको 'माँ मेरी है' ऐसे मानता है तो उसका प्रभाव भूल जाता है कि यह महारानी है। एक बाबाजीने गोपियोंसे कहा कि कृष्ण बड़े ऐश्वर्यशाली हैं, उनके पास ऐश्वर्यका बड़ा खजाना है, तो गोपियाँ बोलीं कि महाराज! उस खजानेकी चाबी तो हमारे पास है! कन्हैयाके पास क्या है? उसके पास तो कुछ भी नहीं है! तात्पर्य है कि माधुर्यमें ऐश्वर्यकी विस्मृति हो जाती है। संसारमें तो ऐश्वर्यका ही ज्यादा आदर है, पर भगवान्‌में माधुर्यका ज्यादा आदर है। जिस समय भगवान्‌में माधुर्य-शक्ति प्रकट रहती है, उस समय ऐश्वर्य-शक्ति दूर भाग जाती है, पासमें नहीं आती।

वास्तवमें भक्त भगवान्‌के ऐश्वर्यको देखता ही नहीं। कारण कि भगवान्‌को भगवान् समझकर प्रेम करना भगवान्‌के साथ प्रेम नहीं है, प्रत्युत भगवत्ता (ऐश्वर्य)-के साथ प्रेम है। जैसे, धनको देखकर धनवान्‌के साथ स्नेह करना वास्तवमें धनवत्ताके साथ स्नेह करना है।

प्रेमकी जागृतिमें भगवान्‌की कृपा ही खास कारण है। प्रेमकी वृद्धिके लिये विरह और मिलन भी भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होते हैं। आदरपूर्वक भगवल्लीलाका श्रवण, वर्णन, चिन्तन तथा भगवन्नामका कीर्तन आदि साधनोंके बलसे प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत समयका सदुपयोग होता है, जिसको वैष्णवाचार्योंने 'कालक्षेप' कहा है। भगवान्‌की कृपा प्राप्त होती है उनकी शरण होनेपर। शरण होनेमें संसारके आश्रयका त्याग मुख्य है।

संसारसे अलग होनेपर संसारका ज्ञान होता है और भगवान्‌से अभिन्न होनेपर भगवान्‌का ज्ञान होता है। कारण कि जीव संसारसे अलग है और भगवान्‌से अभिन्न है—यह वास्तविक, यथार्थ बात है। परन्तु शरीर-संसारसे एकता माननेसे संसारका ज्ञान नहीं होता और संसारका ज्ञान न होनेसे ही संसारकी तरफ खिंचाव होता है। इसी तरह भगवान्‌से भिन्नता माननेसे भगवान्‌का ज्ञान नहीं होता और भगवान्‌का ज्ञान न होनेसे ही भगवान्‌की तरफ खिंचाव नहीं होता। **संसार अपना नहीं है—इस तरह संसारका ज्ञान होनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। भगवान् अपने हैं—इस तरह भगवान्‌का ज्ञान होनेसे भगवान्‌के साथ अभिन्नता होकर प्रेम हो जाता है।**

~~~०~~~
~~~

४. करणनिरपेक्ष साधन-शरणागति

संसारमें किसी क्रियाकी सिद्धिके लिये जो खास कारण हैं, उनको 'कारक' कहते हैं। जैसे, कोई व्यक्ति बोलता है तो बोलनेके लिये जो साधन होते हैं, वे 'कारक' कहलाते हैं। इसलिये व्याकरणमें कारकका लक्षण बताया है—'**क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्**' अर्थात् जो क्रियाका जनक है, उसको कारक कहते हैं। उदाहरणके लिये '**रामेण बाणेन हतो बाली**' 'रामके बाणसे बाली मारा गया'—इस वाक्यमें 'बाण' करण है; क्योंकि बालीकी मृत्यु बाणसे हुई। धनुष, चाप, हाथ आदि भी करण हैं; क्योंकि इनके बिना बाण चल ही नहीं सकता। परन्तु बालीके मरनेकी क्रिया बाणसे हुई है, धनुषसे, डोरीसे अथवा हाथसे नहीं हुई है। इसलिये 'करण' संज्ञा बाणकी हुई, धनुष आदिकी नहीं। जिस व्यापारके बाद तत्काल क्रियाकी सिद्धि हो ही जाती है, उसका नाम 'करण' होता है*। संसारके सभी कार्य करणसे ही सिद्ध होते हैं। इसलिये संसारमें कोई भी काम किया जाय तो उसमें करणकी अपेक्षा रहती है, करणकी सहायता लेनी पड़ती है। करणके बिना कर्ता कोई काम कर ही नहीं सकता। इसलिये व्याकरणमें आया है—'**साधकतमं करणम्**' (पाणि० अ० १। ४। ४२) 'जो क्रियाकी सिद्धिमें खास, अचूक कारण हो, उसका नाम 'करण' है। तात्पर्य है कि करणके बिना किसी क्रियाकी सिद्धि होती ही नहीं।

परमात्मतत्त्व करणरहित है और उसकी प्राप्तिके साधन दो प्रकारके हैं—करणसापेक्ष और करणनिरपेक्ष। जप, ध्यान, कीर्तन, सत्संग, स्वाध्याय, समाधि आदि सब करणसापेक्ष साधन हैं। जितनी भी क्रियाएँ हैं, सब करणके द्वारा ही होती हैं। परन्तु

---

* क्रियायाः फलनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते यदा तत्र करणं तत्तदा स्मृतम्॥ (वाक्यपदीय ३। ७। ९०)

परमात्मा किसी क्रियाके विषय नहीं हैं। क्रियाका विषय वह वस्तु होती है, जो पैदा होती है। जो वस्तुएँ पहले नहीं हैं और पीछे उत्पन्न होती हैं, लायी जाती हैं, बनायी जाती हैं अथवा उनमें परिवर्तन किया जाता है, उन वस्तुओंकी प्राप्ति करणसे होती है। परन्तु जो उत्पन्न नहीं होता, लाया नहीं जाता, बनाया नहीं जाता, बदला नहीं जाता, प्रत्युत सदासे ज्यों-का-त्यों स्वतः-सिद्ध है, उसकी प्राप्तिके लिये करणका तो कहना ही क्या, कर्ताकी भी जरूरत नहीं होती। कारक क्रियाकी सिद्धिमें काम आता है और क्रिया तथा पदार्थ प्रकृतिके द्वारा होते हैं। परमात्मतत्त्व प्रकृतिसे अतीत है। अतः उसमें कोई कारक नहीं है अर्थात् न कर्ता है, न कर्म है, न करण है, न सम्प्रदान है, न अपादान है और न अधिकरण है।

अगर किसीसे पूछा जाय कि तू है क्या? तो हरेक कहेगा कि 'हाँ' मैं 'हूँ'। 'मैं हूँ'—इसमें कोई विवाद नहीं है, यह निर्विवाद बात है। अब विचार करें कि 'मैं हूँ'—इस प्रकार अपनी सत्ता किस करणके द्वारा सिद्ध होती है? 'मैं हूँ'—इस अपने होनेपनमें न कर्ता है, न कर्म है, न करण है, न सम्प्रदान है, न अपादान है और न अधिकरण है। अपने होनेपनको प्रमाणित करनेके लिये किसी पुस्तककी, शास्त्रकी भी जरूरत नहीं है। तात्पर्य है कि करणसे हम क्रिया कर सकते हैं, श्रवण कर सकते हैं, मनन कर सकते हैं, निदिध्यासन कर सकते हैं, ध्यान कर सकते हैं, समाधि लगा सकते हैं, पर जो इन सबसे अतीत तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमान—तीनों कालोंसे रहित है, उस परमात्मतत्त्वतक कोई क्रिया पहुँचती ही नहीं, फिर उसमें करण क्या करेगा? अतः 'मैं हूँ'—इस प्रकार अपनी स्वतः-सिद्ध सत्ताका अनुभव करना 'करणनिरपेक्ष साधन' है। इस साधनमें करण रहे या न रहे, पर इसमें करणकी मुख्यता नहीं है, अपेक्षा नहीं है, इसलिये इसको 'करणनिरपेक्ष' कहते हैं।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व ही संसार है। परमात्मतत्त्व कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे अतीत है। सम्पूर्ण व्यवहार संसारमें होता है। जिसमें व्यवहार होता है, वह नाशवान् होता है और जिसमें कोई व्यवहार नहीं होता, वह अविनाशी होता है। संसार निरन्तर परिवर्तनशील है। एक नदीके किनारे कई सज्जन खड़े थे। वे कहने लगे कि देखो, नदी कैसे वेगसे बह रही है! तो एक सन्तने कहा कि नदी भी बह रही है, उसका जल भी बह रहा है और उसपर जो पुल बना है, उसपर आदमी भी बह रहे हैं! इतना ही नहीं, यह पुल भी बह रहा है! इसपर प्रश्न उठता है कि पुल कैसे बह रहा है? वह तो अपनी जगहपर ही है। इसका उत्तर है कि जब पुल बना था, उस समय यह जैसा नया था, वैसा नया आज नहीं रहा, प्रत्युत पुराना हो गया। इसका नयापना बह गया और पुरानापना आ गया। यह पुरानापना भी निरन्तर बह रहा है और बहते-बहते एक दिन यह पुल मिट जायगा। ऐसे ही यह नदी भी निरन्तर बह रही है और बहते-बहते एक दिन मिट जायगी। तात्पर्य है कि संसारकी प्रत्येक वस्तु बह रही है और बहते हुए नाशकी तरफ अर्थात् अभावकी तरफ जा रही है। एक दिन संसारका बहनापना भी नहीं रहेगा, उसका सर्वथा अभाव हो जायगा। मनुष्य समझते हैं कि हम जी रहे हैं, पर यह बिलकुल झूठी बात है। सच्ची बात तो यह है कि हम निरन्तर मर रहे हैं, एक-एक श्वासमें मर रहे हैं, एक-एक क्षणमें मर रहे हैं। किसी भी क्षण मरना बन्द नहीं होता। तात्पर्य है कि यह मृत्युरूपी क्रिया नाशवान् शरीरमें हो रही है, स्वरूपमें नहीं। अविनाशी तत्त्वमें कोई क्रिया होती ही नहीं। अतः उसको क्रियाके द्वारा नहीं पकड़ सकते।

विवाह होनेपर कन्या पतिकी हो जाती है। वह मान लेती है कि ये मेरे पति हैं और पति मान लेता है कि यह मेरी पत्नी है—इसमें क्या क्रिया है? यह तो स्वीकृति है। स्वीकृतिमें क्रिया नहीं

होती। परन्तु 'मैं पतिकी हूँ'—इस स्वीकृतिमें और 'मैं भगवान्का हूँ'—इस स्वीकृतिमें फर्क है। 'मैं पतिकी हूँ'—यह स्वीकृति तो शरीरको लेकर है, पर 'मैं भगवान्का हूँ'—यह स्वीकृति शरीरको लेकर नहीं है, प्रत्युत स्वरूप (तत्त्व)-को लेकर है। स्त्री तो पतिकी बनती है, पहलेसे नहीं है, पर 'मैं भगवान्का हूँ'—यह पहलेसे ही स्वतःसिद्ध है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७), '*ईस्वर अंस जीव अबिनासी*' (मानस, उत्तर० ११७।१)। जब पतिकी स्वीकृतिमें भी क्रिया नहीं है, फिर भगवान्की स्वीकृतिमें क्रिया कैसे होगी जो कि स्वतःसिद्ध है? अतः 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—यह स्वीकृति 'करणनिरपेक्ष साधन' है।

'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—यह स्वीकृति पहले करणके द्वारा अर्थात् मन, वाणी, बुद्धिसे होती है, पर इसमें जो 'हूँ' है—यह स्वीकृति करणके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत स्वयंसे होती है। जैसे, जिस आदमीका विवाह हो चुका हो, उसको नींदसे उठाकर पूछो कि क्या तुम्हारा विवाह हो गया? तो वह तुरन्त कहेगा कि हाँ, हो गया। वह यह विचार नहीं करेगा कि विवाह हुआ या नहीं हुआ। कारण कि 'मैं विवाहित हूँ'—यह स्वीकृति स्वयंकी है। उसने 'मैं विवाहित हूँ'—इसकी एक माला भी नहीं फेरी, एक बार भी अभ्यास नहीं किया, फिर भी वह इस बातको कभी भूलता नहीं। कारण कि यह स्वयंकी स्वीकृति है और मनुष्य स्वयंको कभी भूलता नहीं। इसी तरह 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—यह स्वीकृति एक बार होती है और सदाके लिये होती है। इसमें किसी अभ्यासकी आवश्यकता नहीं है। सभी अभ्यास 'करणसापेक्ष साधन' में होते हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, समाधि आदि सब 'करणसापेक्ष साधन' हैं। परन्तु स्वयंकी स्वीकृति 'करणनिरपेक्ष साधन' है। करणसापेक्ष साधनमें तो भूल हो जाती है, पर करणनिरपेक्ष साधनमें भूल होती ही नहीं। करणसापेक्ष साधनमें साधक योगभ्रष्ट भी हो

सकता है, पर करणनिरपेक्ष साधनमें योगभ्रष्ट होता ही नहीं।

जैसे स्त्री पतिको स्वीकार करती है, ऐसे ही भक्त भगवान्‌को स्वीकार करता है कि 'मैं भगवान्‌का हूँ'। वास्तवमें 'मैं शरीर-संसारका हूँ'—इस गलत मान्यताको हटानेके लिये 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस स्वीकृतिकी जरूरत है, अन्यथा इस स्वीकृतिकी भी जरूरत नहीं है। तात्पर्य है कि 'मैं भगवान्‌का हूँ' यह स्वीकृति अस्वीकृतिको मिटानेमें काम करती है, नया सम्बन्ध जोड़नेमें नहीं। जैसे 'मैं पतिकी हूँ'—ऐसा माननेके लिये तो स्त्रीको कुछ करना नहीं पड़ता, पर पतिके घरका काम जन्मभर करना पड़ता है, ऐसे ही 'मैं भगवान्‌का हूँ'—ऐसा माननेके लिये भक्तको कुछ करना नहीं है, पर भगवान्‌का काम जन्मभर करना है। उसको सांसारिक अथवा पारमार्थिक सब कार्य भगवान्‌के लिये ही करने हैं। जैसे पतिव्रता स्त्री सब काम पतिके सम्बन्धसे ही करती है। शरीरका काम भी पतिके सम्बन्धसे करती है। कपड़े भी पतिके सम्बन्धसे ही पहनती है। सुहागनके कपड़े और तरहके होते हैं, विधवाके कपड़े और तरहके। पतिके सम्बन्धसे ही वह सुहागन होती है और पतिके सम्बन्धसे ही वह विधवा होती है। वह शृंगार भी पतिके सम्बन्धसे करती है। पति पासमें हो तो और तरहका शृंगार होता है, पति दूर देशमें गया हो तो और तरहका शृंगार होता है। वह बिन्दी भी लगाती है तो पतिके सम्बन्धसे लगाती है। ऐसे ही भक्तका प्रत्येक काम भगवान्‌के लिये ही होता है—

पतिवरता रहै पतिके पासा, यों साहिबके ढिग रहै दासा॥

कारण कि भक्त अपनी अहंताको बदल देता है कि मैं संसारी नहीं हूँ, मैं तो भगवान्‌का हूँ। यह अहंता-परिवर्तन एक ही बार होता है, दो बार नहीं। जब एक बार अपनेको दे दिया, तो फिर दुबारा देनेके लिये क्या रह गया? देना एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है। हमने अपनेको दे दिया तो अब कुछ भी करना बाकी नहीं रहा। अब तो नामजप करना

है, कीर्तन करना है, भगवान् और उनके भक्तोंकी लीलाएँ सुननी हैं, भगवान्के जनोंकी सेवा करनी है; क्योंकि इससे बढ़कर और कोई काम है नहीं। यह सब करके मैं भगवान्का हो जाऊँगा—यह भाव उसमें रहता ही नहीं। क्या स्त्रीमें यह भाव रहता है कि मैं इतना काम करूँगी तो पतिकी होऊँगी, काम नहीं करूँगी तो नहीं होऊँगी? वह बीमार हो जाय, कुछ भी न करे तो भी पतिकी ही है और सब काम करे तो भी पतिकी ही है। पतिके साथ कुछ करने या न करनेका सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत स्वीकृतिका सम्बन्ध है। इसी तरह भगवान्के साथ सम्बन्ध हो जाय तो भजन अपने-आप होगा, करना नहीं पड़ेगा। स्त्री तो विधवा भी हो सकती है, पर भक्तका सुहाग स्वतःसिद्ध है, अमर है, सदासे ही है।

ज्यों तिरिया पीहर रहै, सुरति रहै पिय माहिं।
ऐसे जन जगमें रहै, हरि को भूलै नाहिं॥

लड़की पीहरमें कुछ दिन रह जाती है तो माँसे कहती है कि 'माँ, भाईसे कह कि मेरेको घर पहुँचा दे, उनको (पतिको) रोटीकी तकलीफ हो रही होगी!' वह रहती तो यहाँ है, पर चिन्ता उस घरकी है; क्योंकि वह समझती है कि मैं यहाँकी नहीं हूँ। इसी तरह भक्त जगत्में रहते हुए भी भगवान्को नहीं भूलता, प्रत्युत ऐसा समझता है कि जगत् मेरा नहीं है, मेरे तो भगवान् हैं। यह 'करणनिरपेक्ष साधन' है।

करणनिरपेक्ष साधनमें अहंता बदल जाती है। जो पहले मानता था कि मैं संसारका हूँ, वह अहंता बदलनेपर मानता है कि मैं भगवान्का हूँ। जो पहले मानता था कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ आदि, वह अहंता बदलनेपर मानता है कि मैं न ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य आदि हूँ, मैं तो भगवान्का हूँ।

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नो वा वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।

किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ॥

'मैं न तो ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ, न शूद्र हूँ, न ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थ हूँ, न वानप्रस्थ हूँ और न संन्यासी ही हूँ; किन्तु सम्पूर्ण परमानन्दमय अमृतके उमड़ते हुए महासागररूप गोपीकान्त श्यामसुन्दरके चरणकमलोंके दासोंका दासानुदास हूँ।'

पहले गुरुके द्वारा शिष्यको जो दीक्षा दी जाती थी, उसका तात्पर्य भी अहंता बदलनेसे ही था। जैसे विवाहके समय ब्राह्मण कह देता है कि 'बेटी, ये तेरे पति हो गये' और वह स्वीकार कर लेती है, ऐसे ही गुरु शिष्यसे कह देता है कि 'बेटा, अब तुम भगवान्‌के हो गये' और वह स्वीकार कर लेता है अर्थात् 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस तरह अपनी अहंता बदल देता है। गुरुमें यह भाव नहीं होता था कि यह मेरा चेला बन जाय, मेरी सेवा करे, भेंट-पूजा करे, मेरी टोली बनाये, मेरा पक्ष ले आदि। शिष्यके साथ गुरुका सम्बन्ध सांसारिक न होकर पारमार्थिक (कल्याणके लिये) होता था।

अहंता बदलनी है—संसारका सम्बन्ध मिटानेके लिये, भगवान्‌से नया सम्बन्ध जोड़नेके लिये नहीं। कारण कि संसारका सम्बन्ध माना हुआ है और भगवान्‌का सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है। 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस तरह अहंता बदल जानेके बाद अहम् मिट जाता है अर्थात् व्यक्तित्व नहीं रहता। फिर भक्तकी प्रत्येक क्रिया भगवान्‌के लिये ही होती है। अपने लिये कुछ करना बाकी रहता ही नहीं। जब अपने-आपको भगवान्‌के अर्पित कर दिया, तो फिर अपने लिये क्या करना बाकी रहा? वह भगवान्‌की मरजीमें अपनी मरजी मिला देता है और प्रसन्न रहता है। बीमार हो जाय तो भगवान्‌की मरजी, स्वस्थ हो जाय तो भगवान्‌की मरजी, घाटा लग जाय तो भगवान्‌की मरजी, नफा

हो जाय तो भगवान्‌की मरजी, निरादर हो जाय तो भगवान्‌की मरजी, आदर हो जाय तो भगवान्‌की मरजी, सब निन्दा करें तो भगवान्‌की मरजी, सब प्रशंसा करें तो भगवान्‌की मरजी। उसका बीमारी-स्वस्थता, घाटा-नफा, निरादर-आदर आदिसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, केवल भगवान्‌से ही सम्बन्ध रहता है। विवाहमें तो कन्या वरको स्वीकार करती है और वर कन्याको स्वीकार करता है, तब दोनोंका सम्बन्ध होता है। परन्तु भगवान्‌ने तो सब जीवोंको पहलेसे ही स्वीकार कर रखा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (गीता १५। ७)

'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा मेरा ही सनातन अंश है।'

'सब मम प्रिय सब मम उपजाए।' (मानस, उत्तर० ८६। २)

मुख्य स्वीकृति बड़ेकी, मालिककी होती है। जैसे हम किसीकी गोद जायँ तो इसमें गोद लेनेवालेकी स्वीकृति मुख्य होती है। अगर वह हमें स्वीकार ही न करे तो हम उसकी गोद कैसे जायँगे? ऐसे ही भगवान्‌की स्वीकृति मुख्य है और उन्होंने पहलेसे ही हमें स्वीकार कर रखा है। हम भगवान्‌को स्वीकार कर लें, उनकी स्वीकृतिमें अपनी स्वीकृति मिला लें—इसका नाम शरणागति है। यह 'करणनिरपेक्ष साधन' है।

वास्तवमें हम अनादिकालसे भगवान्‌के ही हैं, पर संसारसे सम्बन्ध मानकर हम भगवान्‌के सम्बन्धको भूल गये थे। अब वह भूल मिट गयी, भगवान्‌के सम्बन्धकी याद आ गयी—यह शरणागति है। जैसे, अर्जुनने भगवान्‌से कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। (गीता १८। ७३)

'हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और स्मृति प्राप्त हो गयी है।'

संसारके साथ माने हुए सम्बन्धका त्याग करनेपर भगवान्‌के

साथ स्वतःसिद्ध सम्बन्धका अनुभव होता है, पैदा नहीं होता। इसलिये शरणागति निषेधमुख साधन है, जिसमें संसारकी स्वीकृति मिटती है।

भगवान्‌के शरणागत होकर भक्त स्वतः निर्भय, निःशोक, निश्चिन्त और निःशंक हो जाता है।

चिन्ता दीनदयाल को, मो मन सदा आनन्द।
जायो सो प्रतिपालसी, रामदास गोबिन्द॥

जब कन्या विवाहके बाद ससुराल जाने लगती है, तब वह माँसे यह नहीं कहती कि 'माँ! थोड़ा आटा तो साथमें दे दे, मैं रोटी कहाँ खाऊँगी?' कारण कि जो ले जा रहा है, वही रोटी देगा, वही कपड़ा देगा, वही मकान देगा, हमें क्या चिन्ता है? चिन्ता क्या, इस बातकी स्फुरणा ही नहीं होती। इससे भी विलक्षण भगवान्‌का हो जानेके बाद भक्त किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करता। उसके मनमें शंका ही नहीं होती कि क्या होगा, क्या नहीं होगा?

'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—यह बहुत ऊँचा 'करणनिरपेक्ष साधन' है, जिसकी सिद्धि तत्काल होती है। जप, तप आदि करनेसे, बुद्धिसे तत्त्वका निश्चय करनेसे तत्काल सिद्धि नहीं होती; क्योंकि शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि 'करण' हैं। करणरहित स्वतःसिद्ध तत्त्वमें बुद्धिका निश्चय होता ही नहीं, प्रत्युत बुद्धिसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। बुद्धिके निश्चयसे तो अभिमान पैदा होता है कि मैं ज्ञानी हूँ, दूसरे अज्ञानी हैं; मैं समझदार हूँ, दूसरे बेसमझ हैं! बेसमझकी बेसमझी तो मिट जाती है, पर अपनेको समझदार माननेवालेकी बेसमझी नहीं मिटती। पागलका पागलपना तो मिट जाता है, पर जो कहता है कि 'तू पागल, तेरा बाप पागल, मैं क्यों पागल', उसका पागलपना नहीं मिट सकता। कारण कि वह अपनेको पागल मानता ही नहीं, फिर उसका पागलपना कैसे मिटेगा? इसलिये जो बद्धज्ञानी (सीखे हुए ज्ञानी)

होते हैं, उनका उद्धार होना बहुत कठिन है। कारण कि उनसे कोई बात कहें तो वे कहते हैं कि 'मैं जानता हूँ', जबकि जानता कुछ है नहीं, पर जाननेका अभिमान भीतर दृढ़ हो गया! अभिमान दृढ़ होनेपर फिर उसका मिटना कठिन हो जाता है।

प्रश्न—'मैं पतिकी हूँ'—यह तो प्रत्यक्ष दिखायी देता है, पर 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देता, फिर इसको कैसे मानें?

उत्तर—पहले जमानेमें विवाहसे पहले लड़का-लड़की एक-दूसरेको नहीं देखते थे। माता-पिता ही दोनोंको भलीभाँति देखकर उनकी सगाई कर देते थे। एक बार सगाई होनेपर फिर उस सम्बन्धमें कोई सन्देह नहीं रहता था। जब बिना देखे सगाई हो सकती है, तो फिर बिना देखे भगवान्‌को अपना क्यों नहीं मान सकते? अवश्य मान सकते हैं। जो कहते हैं कि बिना देखे भगवान्‌को अपना कैसे मानें, उनकी अभी सगाई ही नहीं हुई है, विवाह होना तो दूर रहा!

दूसरी बात, किसीको अपना माननेके लिये उसे देखनेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत अपना स्वीकार करनेकी जरूरत है। हम प्रतिदिन अनेक मनुष्योंको देखते हैं तो क्या उन सबसे अपनेपनका सम्बन्ध हो जाता है? उन सबसे मित्रता हो जाती है? प्रेम हो जाता है? जिसको अपना स्वीकार करते हैं, उसीसे प्रेम होता है।

तीसरी बात, हमारे पास देखनेके लिये जो नेत्र हैं, वे जड़ संसारका अंग होनेसे संसारको ही देखते हैं, संसारसे अतीत चिन्मय भगवान्‌को नहीं देख सकते। हाँ, अगर भगवान् चाहें तो वे हमारे नेत्रोंका विषय हो सकते हैं अर्थात् हमें दर्शन दे सकते हैं; क्योंकि वे सर्वसमर्थ हैं। इसलिये हमें प्रभुको देखे बिना ही भगवान्‌के, शास्त्रोंके, भक्तोंके वचनोंपर विश्वास करके 'मैं प्रभुका हूँ और प्रभु मेरे हैं'—ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये। यही सर्वश्रेष्ठ 'करणनिरपेक्ष साधन' है।

~~0~~

५. गीताकी शरणागति

गीतामें भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके अनेक साधन बताये हैं। जिससे मनुष्यका कल्याण हो जाय, ऐसी कोई भी युक्ति, उपाय भगवान्‌ने बाकी नहीं रखा है। अनन्त मुखोंसे कही जानेवाली बातको भगवान्‌ने एक मुखसे गीतामें कह दिया है! इसलिये गीताके टीकाकार श्रीधरस्वामी लिखते हैं—

शेषाशेषमुखव्याख्याचातुर्यं त्वेकवक्त्रतः।
दधानमद्भुतं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

'शेषनागके द्वारा अपने अशेष मुखोंसे की जानेवाली व्याख्याके चातुर्यको जो एक मुखसे ही धारण करते हैं, उन अद्भुत परमानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।'

गीता ज्ञानका एक अथाह समुद्र है। इसका अध्ययन करनेपर नये-नये भाव मिलते हैं और मिलते ही चले जाते हैं। हाँ, अगर कोई विद्वत्ताके जोरपर गीताका अर्थ समझना चाहे तो नहीं समझ सकेगा। अगर गीता और गीतावक्ताकी शरण लेकर उसका अध्ययन किया जाय तो गीताका तात्त्विक अर्थ स्वतः समझमें आने लगता है।

गीता एक प्रासादिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ अपनी शरण लेनेवालेपर खुद कृपा करता है और कृपा करके उसके सामने प्रकट होता है। मैंने ऐसे मनुष्योंको देखा है, जिनको संस्कृतका बोध नहीं है, पर वे गीताका अर्थ करते हैं! भाषाका बोध न होनेपर भी गीताका सिद्धान्त, भाव उनके मनमें आ जाता है। आजसे साठ-पैंसठ वर्ष पहलेकी बात है। कलकत्तेमें एक मुनीम थे। उनको शुद्ध हिन्दी लिखनी नहीं आती थी। एक दिन उन्होंने कहा कि मैं गीता कण्ठस्थ करना चाहता हूँ; परन्तु इसके लिये किसी पण्डितको रखूँ तो मेरी इतनी सामर्थ्य नहीं है कि उसको तनखाह दे सकूँ। मैंने कहा कि तुम भगवान्‌को नमस्कार करके,

उनकी शरण होकर गीता पढ़नी शुरू कर दो। उन्होंने घर जाकर भगवान्‌का चित्र सामने रख दिया, धूप-बत्ती कर दी, पुष्प चढ़ा दिये और '**कृष्णं वन्दे जगद्‌गुरुम्**' कहकर गीता पढ़ने लग गये। कुछ समयमें उनको गीता याद हो गयी। मैंने उनसे गीताके अठारह अध्याय ठीक संख्यासहित सुने। अशुद्धियाँ बहुत कम थीं।

विद्वत्ताके अभिमानसे गीता याद नहीं होती—ये उदाहरण भी मेरे सामने आये हैं। एक अच्छे पण्डित थे, जो रामायणके मर्मज्ञ थे। गीता-जयन्तीके अवसरपर मैंने गीताकी कुछ बातें कहीं तो उनका गीतामें आकर्षण हुआ। उन्होंने कहा कि मैं किसीसे कोई श्लोक सुन लेता हूँ तो वह मुझे कण्ठस्थ हो जाता है; अतः मैं गीताका अर्थ जानना चाहता हूँ। मैंने कहा कि आप गीताका एक बारहवाँ अध्याय याद करके मेरे पास आयें तो मैं उसका अर्थ आपको अच्छी तरहसे सुना दूँगा। कुछ दिनोंके बाद वे मेरेसे मिले और कहा कि मैं गीताको याद करनेके लिये बहुत परिश्रम करता हूँ, पर मेरेको गीता याद नहीं होती! इसका कारण मैंने यही समझा कि उनके मनमें अभिमान था कि मैं इतना जानकार हूँ, मेरेको बहुत जल्दी श्लोक याद हो जाते हैं! यह अभिमान पारमार्थिक मार्गमें बड़ा भारी बाधक है। जो निरभिमान होकर सरलतापूर्वक गीताकी शरणमें जाता है, उसको गीताके भाव समझमें आ जाते हैं। मैंने देखा है कि जिन्होंने भगवान्‌की शरण ले ली है, उनके अनुभवमें ऐसी-ऐसी विचित्र बातें आ जाती हैं, जो शास्त्रोंमें भी कहीं-कहीं मिलती हैं। इसलिये गीतामें शरणागतिकी बात मुख्यरूपसे आयी है। गीता शरणागतिसे ही शुरू होती है और शरणागतिमें ही समाप्त होती है। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन साथ-साथ रहा करते थे। श्रीमद्भागवतमें अर्जुन कहते हैं—

शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादि-
ष्वैक्याद् वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः।

सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं
सेहे महान् महितया कुमतेरघं मे॥

(१। १५। १९)

'भगवान् श्रीकृष्णके साथ सोने, बैठने, घूमने, बातचीत करने और भोजनादि करनेमें मेरा-उनका ऐसा सहज भाव हो गया था कि मैं कभी-कभी 'हे सखे! तुम तो बड़े सत्यवादी हो!' ऐसा कहकर आक्षेप भी करता था। परन्तु वे महात्मा प्रभु अपने बड़प्पनके अनुसार मुझ कुबुद्धिके उन समस्त तिरस्कारोंको वैसे ही सहा करते थे, जैसे सखा अपने सखाके या पिता अपने पुत्रके सब तिरस्कार सहा करता है।'

अर्जुनके साथ इतनी घनिष्ठ मित्रता होते हुए भी भगवान् श्रीकृष्णने उनको पहले कभी गीताका उपदेश नहीं दिया। परन्तु युद्धके अवसरपर, जब दोनों तरफसे शस्त्र चलनेकी तैयारी हो रही थी—'**प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः**' (गीता १। २०), तब भगवान्ने अर्जुनको गीता सुनायी! क्या गीतोपदेश देनेके लिये यही एकान्तका बढ़िया समय था? इसका उत्तर यह है कि पहले कभी अर्जुन इस प्रकार व्याकुल होकर भगवान्की शरण नहीं हुए थे। जब उन्होंने दोनों पक्षकी सेनाओंमें अपने सगे-सम्बन्धियोंको देखा, तब वे सन्देहमें पड़ गये कि मैं युद्ध करूँ अथवा न करूँ? युद्धमें हमारी विजय होगी अथवा कौरवोंकी? मेरा कल्याण युद्ध करनेमें है अथवा न करनेमें? अतः उन्होंने भगवान्की शरण लेते हुए प्रार्थना की—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

(गीता २। ७)

'कायरताके दोषसे उपहत स्वभाववाला और धर्मके विषयमें मोहित अन्तःकरणवाला मैं आपसे पूछता हूँ कि जो निश्चित श्रेय

हो, वह मेरे लिये कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ। आपके शरण हुए मेरेको शिक्षा दीजिये।'

इस प्रकार गीताके आरम्भमें अर्जुन भगवान्‌की शरण लेकर अपने कल्याणका उपाय पूछते हैं और अन्तमें भगवान् अपनी शरणमें आनेकी आज्ञा देते हैं—'**मामेकं शरणं व्रज**' (गीता १८। ६६)।

अर्जुनने भगवान्‌से पहले तो यह कहा कि 'मैं आपकी शरण हूँ, मेरेको शिक्षा दीजिये', पर इसके तुरन्त बाद वे 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—ऐसा कहकर चुप हो गये—'**न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह**' (गीता २। ९)। यह बात भगवान्‌को ठीक नहीं लगी, पर वे कुछ बोले नहीं। अत्यधिक कृपालु होनेके कारण भगवान्‌ने उपदेश देना शुरू कर दिया। आगे चलकर अठारहवें अध्यायमें भगवान् बोले—

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

(गीता १८। ५९)

'अहंकारका आश्रय लेकर तू जो ऐसा मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तेरा यह निश्चय मिथ्या (झूठा) है; क्योंकि तेरी क्षात्र-प्रकृति तेरेको युद्धमें लगा देगी।'

भगवान्‌के कथनका तात्पर्य है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'—यह वास्तवमें अहंकारकी शरण होना है, मेरी शरण होना नहीं। अगर मेरी शरणागति होती तो 'मैं ऐसा करूँगा, ऐसा नहीं करूँगा'—यह हो ही नहीं सकता। अहंकार शरणागतिमें महान् बाधक है। वर्ण, आश्रम, जाति, विद्या, कुल, योग्यता, पद आदिको लेकर 'मैं भी कुछ हूँ'—ऐसा अभिमान शरण नहीं होने देता। अतः भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि जैसी तेरी मरजी आये, वैसा कर—'**यथेच्छसि तथा कुरु**' (गीता १८। ६३)। यह सुनकर अर्जुन घबरा गये कि भगवान् तो मेरा त्याग कर रहे हैं! यह देखकर भगवान् बोले कि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है, इसलिये मैं तेरे

हितके लिये सर्वगुह्यतम (सबसे अत्यन्त गोपनीय) बात कहता हूँ[१]। गीतामें '**सर्वगुह्यतम**' शब्द एक ही बार यहाँ (१८। ६४)-में आया है। इसके बाद भगवान्‌ने दो श्लोक कहे—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६५-६६)

'तू मेरा भक्त हो जा, मेरेमें मनवाला हो जा, मेरा पूजन करनेवाला हो जा और मेरेको नमस्कार कर। ऐसा करनेसे तू मेरेको ही प्राप्त हो जायगा—यह मैं तेरे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

'सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर।'

इन दो श्लोकोंके बाद भगवान्‌ने कहा कि यह सर्वगुह्यतम वचन उस व्यक्तिसे मत कहना, जो अतपस्वी है, अभक्त है, इस रहस्यको सुनना नहीं चाहता और मेरेमें दोषदृष्टि करता है[२]। इससे ऐसा मालूम देता है कि भगवान्‌ने दोनों तरफसे (चौंसठवें एवं सड़सठवें श्लोकमें) निषेध करके मानो डिबियाके बीचमें दो सर्वगुह्यतम श्लोक-रत्न रखे हैं। इन दोनोंमें भी शरणागतिका मुख्य श्लोक अन्तिम (१८। ६६) है। रामायणमें भी जब सुग्रीवने भगवान्‌से कहा—

---

१. सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

(गीता १८। ६४)

२. इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

(गीता १८। ६७)

सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥

(मानस, किष्किन्धा० ५। ४)

तब भगवान्‌ने कहा—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

(मानस, किष्किन्धा० ७। ५)

अर्जुनने भगवान्‌से कहा कि धर्मका निर्णय करनेमें मेरी बुद्धि काम नहीं कर रही है—'**धर्मसम्मूढचेताः**'; अतः मैं आपकी शरण हूँ, तो भगवान्‌ने कहा कि तुझे धर्मका निर्णय करनेकी जरूरत ही नहीं है—'**सर्वधर्मान् परित्यज्य।**' जिनके भीतर कामना है, वे धर्मका आश्रय लेनेवाले तो बार-बार जन्मते और मरते रहते हैं—'**एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते**' (गीता ९। २१)। अतः धर्मका आश्रय न लेकर अनन्यभावसे एक मेरी शरण ले—'**मामेकं शरणं व्रज**'।

अर्जुन कहता है कि मैं युद्ध करूँगा तो पाप लगेगा[१] और भगवान् कहते हैं कि तू युद्ध नहीं करेगा तो पाप लगेगा[२]। परन्तु अन्तमें भगवान् अत्यन्त कृपा करके कहते हैं कि तू पापसे मत डर, तू मेरी शरणमें आ जा तो मैं तेरेको सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। इसके साथ ही भगवान् आश्वासन भी देते हैं कि तू चिन्ता मत कर।

सम्पूर्ण पाप और दुःख भगवान्‌से विमुख होनेसे ही होते हैं। भगवान्‌से विमुख होना सबसे बड़ा पाप है और सम्मुख होना सबसे बड़ा पुण्य है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस, सुन्दर० ४४। १)

---

१. 'पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः॥' (गीता १। ३६)
'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।' (गीता १। ४५)

२. अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ (गीता २। ३३)

भगवान्‌के सम्मुख होनेसे पापों और दु:खोंका मूल नष्ट हो जाता है। सन्तोंने कहा है कि भगवान्‌के सम्मुख होना पूरा पुण्य है और सद्‌गुण-सदाचारोंमें लगना आधा पुण्य है। इसी तरह भगवान्‌से विमुख होना पूरा पाप है और दुर्गुण-दुराचारोंमें लगना आधा पाप है। जीव भगवान्‌का अंश है और अंशीसे विमुख होनेसे ही वह दु:ख पाता है। जब वह भगवान्‌की शरण हो जाता है, तब सब पाप-ताप मिट जाते हैं।

साधकको चाहिये कि वह सरल हृदयसे ऐसा कह दे कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' और मान ले कि मैं भगवान्‌की शरण हो गया और भगवान्‌ने मेरेको स्वीकार कर लिया। वास्तवमें भगवान् किसीका भी त्याग करते नहीं, किया नहीं और करेंगे नहीं। सर्वसमर्थ भगवान्‌में किसीका त्याग करनेकी सामर्थ्य ही नहीं है। उन्होंने सबको अपनी शरणमें ले रखा है। हम ही उनसे विमुख होकर संसारके सम्मुख हो गये, संसारकी शरण हो गये। अत: भगवान् कहते हैं कि सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर एक मेरी शरण हो जाओ तो मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत करो। तात्पर्य है कि धर्मका अनुष्ठान तो करो, पर धर्मका अनुष्ठान करके मैं अपना कल्याण कर लूँगा—यह आश्रय मत रखो। नाम-जप, कीर्तन, प्रार्थना, गीता-रामायणका पाठ, शास्त्रोंका अध्ययन आदि सब करो, पर इनसे मैं अपना कल्याण कर लूँगा—ऐसा अभिमान मत रखो। अपने उद्योगसे कोई अनन्त पापोंका नाश नहीं कर सकता; क्योंकि यह ताकत जीवमें नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌में ही है। इसलिये भगवान् कहते हैं—**'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:'** अर्थात् सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त मैं करूँगा, तुम चिन्ता क्यों करते हो!

जो जाको शरणो गहै, ताकहँ ताकी लाज।
उलटे जल मछली चलै, बह्यो जात गजराज॥

नदीके तेज प्रवाहमें यदि बलवान् हाथी भी आ जाय तो वह

टिक नहीं सकता, लुढ़क जाता है। परन्तु छोटी-सी मछली उस तेज प्रवाहमें भी बड़े आरामसे घूमती है। इतना ही नहीं, मैंने देखा है कि अगर ऊपरसे जलकी धारा तीव्रगतिसे नीचे गिर रही हो तो उस धारामें भी छोटी-छोटी मछलियाँ ऊँचे चढ़ जाती हैं! इसका कारण यह है कि हाथीने तो जंगलकी शरण ले रखी है, पर मछलीने जलकी शरण ले रखी है। जलके सिवाय और जगह वह व्याकुल हो जाती है, जलके वियोगमें मर जाती है। अगर जल मछलीको बहा दे तो बेचारी मछली कहाँ जायगी? किसकी शरण लेगी? इसी तरह अगर हम भगवान्‌की शरण ले लें तो फिर कोई भी शक्ति हमें रोक नहीं सकती। इसलिये भगवान् कहते हैं कि तू चिन्ता मत कर—'**मा शुचः**।' हमने भगवान्‌की शरण ले ली, फिर अपने उद्धारकी चिन्ता हम करें—यह बड़े आश्चर्यकी और मूर्खताकी, बेसमझीकी बात है!

जबतक साधकमें अपने बल, बुद्धि, योग्यता आदिका आश्रय रहता है, 'मैं कर सकता हूँ'—यह अभिमान रहता है, तबतक शरणागति नहीं होती। जब अपने बलका आश्रय नहीं रहता, तब बड़ी सुगमतासे शरणागति होती है। इसलिये कहा है—

जब लगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्‌यो नहिं काम।
निरबल ह्वै बल राम पुकार्‌यो, आये आधे नाम॥
सुने री मैंने निरबल के बल राम।

इसलिये साधकको अपना बल, बुद्धि, योग्यता आदि सब लगाने चाहिये। सब बल लगानेपर भी जब कार्य सिद्ध नहीं होता, तब अपने बलका अभिमान दूर हो जाता है। जबतक वह अपना पूरा बल लगाकर भजन नहीं करता, तबतक उसके भीतर अपने बलका अभिमान रहता है। जबतक अपने बलका अभिमान रहता है, तबतक शरणागति सिद्ध नहीं होती।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—'**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**'

(गीता ११। ३३) 'हे सव्यसाची! तुम निमित्तमात्र बन जाओ।' अर्जुनको 'सव्यसाची' इसलिये कहा कि वे दोनों हाथोंसे बाण चलाते थे। वे दायें हाथसे जैसा निशाना मारते थे, वैसा-का-वैसा निशाना बायें हाथसे भी मारते थे। वे आगे-पीछे, दायें-बायें चारों तरफ बराबर भाग सकते थे और भागते हुए बाण चला सकते थे। भगवान् 'सव्यसाची' सम्बोधन देकर मानो यह कहते हैं कि तुम अपने उद्योगमें कमी मत रखो, पूरा उद्योग करो, पर भरोसा उद्योगका मत रखो।

जब भगवान्‌ने इन्द्रकी पूजा बन्द करवाकर गिरिराज गोवर्धनकी पूजा करवा दी, तब इन्द्रने कोप करके व्रजपर भयंकर वर्षा कर दी। भगवान्‌ने गिरिराजको बायें हाथकी छोटी अंगुलीके नखपर उठा लिया और ग्वालबालोंसे कहा कि सब-के-सब पर्वतपर अपनी-अपनी लाठियाँ लगाओ। सबने पूरी शक्तिसे अपनी लाठियाँ लगा दीं। ग्वालबालोंके मनमें आया कि हम सबने लाठियाँ लगायी हैं, तभी पर्वत उठा है। लालाकी एक अंगुलीसे पर्वत थोड़े ही उठा है! उनके मनमें ऐसा आते ही भगवान्‌ने उनका अभिमान दूर करनेके लिये अपनी अंगुली थोड़ी-सी नीचे की तो ग्वालबाल चिल्लाने लगे—अरे दादा! मरे, मरे, मरे! भगवान्‌ने कहा कि उठाओ, लगाओ जोर! पर लाठीके जोरसे पर्वत थोड़े ही उठ सकता है! तात्पर्य है कि साधक अपना बल तो पूरा लगाये, पर उद्योगसे मेरा उद्धार हो जायगा—इस तरह उद्योगका आश्रय न लेकर भगवान्‌का ही आश्रय रखे कि उद्धार तो भगवान्‌की कृपासे ही होगा। भगवान्‌की कृपाका भरोसा रखना शरणागति है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि तू मेरी शरणमें आ जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, उसकी चिन्ता तू मत कर।

परीक्षित्‌की माता उत्तराने भी भगवान्‌की शरण ली थी। द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामाने विचार कर लिया था कि मैं पाण्डवोंका वंश नष्ट कर दूँगा। उसने सोते हुए द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको मार डाला। अब

केवल उत्तराके गर्भमें एक बालक रह गया। उसको भी नष्ट करनेके लिये अश्वत्थामाने ब्रह्मास्त्र चलाया। जब उत्तराने उसको अपनी ओर आते देखा, तब उसने भगवान्‌को पुकारा—

पाहि पाहि महायोगिन्देवदेव जगत्पते।
नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम्॥
अभिद्रवति मामीश शरस्तप्तायसो विभो।
कामं दहतु मां नाथ मा मे गर्भो निपात्यताम्॥

(श्रीमद्भा० १। ८। ९-१०)

'देवाधिदेव! जगदीश्वर! महायोगिन्! आप मेरी रक्षा कीजिये! रक्षा कीजिये! आपके सिवाय इस लोकमें मुझे अभय देनेवाला दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि यहाँ सभी आपसमें एक-दूसरेकी मृत्युका कारण बन रहे हैं। प्रभो! सर्वशक्तिमान्! यह दहकता हुआ लोहेका बाण मेरी तरफ दौड़ा आ रहा है। स्वामिन्! यह मुझे भले ही जला डाले, पर मेरे गर्भको नष्ट न करे।'

उत्तराकी पुकार सुनते ही भगवान्‌ने चक्र धारण कर लिया और छोटा-सा रूप धारण करके गर्भस्थ शिशुके चारों ओर घूमने लगे। इससे ब्रह्मास्त्र गर्भस्थ शिशुका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सका और शान्त हो गया। परीक्षित् कहते हैं—

द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं
सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम्।
जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो
मातुश्च मे यः शरणं गतायाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १। ६)

'महाराज! मेरा यह शरीर, जो आपके सामने है तथा जो कौरव और पाण्डव दोनों ही वंशोंका एकमात्र सहारा था, अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे जल चुका था। उस समय मेरी माता जब भगवान्‌की शरणमें गयी, तब उन्होंने हाथमें चक्र लेकर

मेरी माताके गर्भमें प्रवेश किया और मेरी रक्षा की।'

तात्पर्य है कि भगवान्‌की शरणमें जाना जीवका काम है और उसकी सब प्रकारसे रक्षा करना भगवान्‌का काम है। अगर मनुष्यमें थोड़ा भी शरणागतिका भाव आ जाय तो भगवान् पिघल जाते हैं, उनसे रहा नहीं जाता और वे उसको स्वीकार कर ही लेते हैं। अगर कोई सच्चे हृदयसे एक बार भी कह दे कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' तो भगवान् उसका उद्धार कर देते हैं। भगवान् शरणागतका त्याग नहीं कर सकते। भगवान् कहते हैं—

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६५)

'जो भक्त स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आ गये हैं, उन्हें छोड़नेका संकल्प भी मैं कैसे कर सकता हूँ?'

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥

(मानस, सुन्दर० ४४। १)

जो सच्चे हृदयसे भगवान्‌की शरण लेता है, उसका जीवन बदल जाता है—ऐसा मैंने देखा है। कलकत्तेमें एक सज्जन मिले थे। वे कहते थे कि 'मैं सत्संग करनेवालोंको फालतू समझा करता था कि ये व्यर्थ ही अपना समय बर्बाद करते हैं। एक बार मैं नवद्वीप गया। मैं वहाँके प्रसिद्ध 'भजनाश्रम' में ठहरा हुआ था। एक दिन वहाँ कुछ माताएँ कीर्तन कर रही थीं। मैं वहाँ बैठ गया। उस कीर्तनमें एक स्त्रीने उठकर भगवान्‌की शरणागतिकी बात कही और वाल्मीकिरामायणका यह श्लोक कहा—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(६। १८। ३३)

टिक नहीं सकता, लुढ़क जाता है। परन्तु छोटी-सी मछली उस तेज प्रवाहमें भी बड़े आरामसे घूमती है। इतना ही नहीं, मैंने देखा है कि अगर ऊपरसे जलकी धारा तीव्रगतिसे नीचे गिर रही हो तो उस धारामें भी छोटी-छोटी मछलियाँ ऊँचे चढ़ जाती हैं! इसका कारण यह है कि हाथीने तो जंगलकी शरण ले रखी है, पर मछलीने जलकी शरण ले रखी है। जलके सिवाय और जगह वह व्याकुल हो जाती है, जलके वियोगमें मर जाती है। अगर जल मछलीको बहा दे तो बेचारी मछली कहाँ जायगी? किसकी शरण लेगी? इसी तरह अगर हम भगवान्‌की शरण ले लें तो फिर कोई भी शक्ति हमें रोक नहीं सकती। इसलिये भगवान् कहते हैं कि तू चिन्ता मत कर—'**मा शुचः।**' हमने भगवान्‌की शरण ले ली, फिर अपने उद्धारकी चिन्ता हम करें—यह बड़े आश्चर्यकी और मूर्खताकी, बेसमझीकी बात है!

जबतक साधकमें अपने बल, बुद्धि, योग्यता आदिका आश्रय रहता है, 'मैं कर सकता हूँ'—यह अभिमान रहता है, तबतक शरणागति नहीं होती। जब अपने बलका आश्रय नहीं रहता, तब बड़ी सुगमतासे शरणागति होती है। इसलिये कहा है—

जब लगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्‌यो नहिं काम।
निरबल ह्वै बल राम पुकार्‌यो, आये आधे नाम॥
सुने री मैंने निरबल के बल राम।

इसलिये साधकको अपना बल, बुद्धि, योग्यता आदि सब लगाने चाहिये। सब बल लगानेपर भी जब कार्य सिद्ध नहीं होता, तब अपने बलका अभिमान दूर हो जाता है। जबतक वह अपना पूरा बल लगाकर भजन नहीं करता, तबतक उसके भीतर अपने बलका अभिमान रहता है। जबतक अपने बलका अभिमान रहता है, तबतक शरणागति सिद्ध नहीं होती।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—'**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**'

(गीता ११। ३३) 'हे सव्यसाची! तुम निमित्तमात्र बन जाओ।' अर्जुनको 'सव्यसाची' इसलिये कहा कि वे दोनों हाथोंसे बाण चलाते थे। वे दायें हाथसे जैसा निशाना मारते थे, वैसा-का-वैसा निशाना बायें हाथसे भी मारते थे। वे आगे-पीछे, दायें-बायें चारों तरफ बराबर भाग सकते थे और भागते हुए बाण चला सकते थे। भगवान् 'सव्यसाची' सम्बोधन देकर मानो यह कहते हैं कि तुम अपने उद्योगमें कमी मत रखो, पूरा उद्योग करो, पर भरोसा उद्योगका मत रखो।

जब भगवान्ने इन्द्रकी पूजा बन्द करवाकर गिरिराज गोवर्धनकी पूजा करवा दी, तब इन्द्रने कोप करके व्रजपर भयंकर वर्षा कर दी। भगवान्ने गिरिराजको बायें हाथकी छोटी अंगुलीके नखपर उठा लिया और ग्वालबालोंसे कहा कि सब-के-सब पर्वतपर अपनी-अपनी लाठियाँ लगाओ। सबने पूरी शक्तिसे अपनी लाठियाँ लगा दीं। ग्वालबालोंके मनमें आया कि हम सबने लाठियाँ लगायी हैं, तभी पर्वत उठा है। लालाकी एक अंगुलीसे पर्वत थोड़े ही उठा है! उनके मनमें ऐसा आते ही भगवान्ने उनका अभिमान दूर करनेके लिये अपनी अंगुली थोड़ी-सी नीचे की तो ग्वालबाल चिल्लाने लगे—अरे दादा! मरे, मरे, मरे! भगवान्ने कहा कि उठाओ, लगाओ जोर! पर लाठीके जोरसे पर्वत थोड़े ही उठ सकता है! तात्पर्य है कि साधक अपना बल तो पूरा लगाये, पर उद्योगसे मेरा उद्धार हो जायगा—इस तरह उद्योगका आश्रय न लेकर भगवान्का ही आश्रय रखे कि उद्धार तो भगवान्की कृपासे ही होगा। भगवान्की कृपाका भरोसा रखना शरणागति है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि तू मेरी शरणमें आ जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, उसकी चिन्ता तू मत कर।

परीक्षित्की माता उत्तराने भी भगवान्की शरण ली थी। द्रोणाचार्यके पुत्र अश्वत्थामाने विचार कर लिया था कि मैं पाण्डवोंका वंश नष्ट कर दूँगा। उसने सोते हुए द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको मार डाला। अब

'जो एक बार भी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मेरेसे रक्षाकी याचना करता है, उसको मैं सम्पूर्ण प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है।'

मैंने यह सुना तो विचार आया कि यह तो बड़ा सुगम साधन है! मैं अपने कमरेमें आ गया और सब कपाट बन्द करके एकान्तमें सच्चे हृदयसे भगवान्‌से कहा कि कोई एक बार भी आपकी शरण हो जाय तो आप उसका उद्धार कर देते हो, सब पापोंसे मुक्त कर देते हो—यह बात अगर सच्ची है तो हे नाथ! मैं आपकी शरण हूँ! ऐसा कहकर मैंने लम्बा पड़कर प्रणाम किया। फिर मैं वहाँसे कलकत्ते आ गया और अपने काममें लग गया। नवद्वीपवाली बात मेरेको याद ही नहीं रही। एक दिन मैंने सुना कि अमुक जगह सत्संग हो रहा है तो यों ही कौतूहलवशात् वहाँ चला गया। जानेपर मन लग गया तो सत्संग करने लग गया। धीरे-धीरे मेरा जीवन बदल गया। फिर एक दिन आश्चर्य आया कि मैं तो बड़ा तर्क-वितर्क करनेवाला था, फिर अपने-आप यह परिवर्तन कैसे हो गया! तब याद आया कि ओहो! मैंने नवद्वीपमें कहा था कि हे नाथ! मैं आपकी शरण हूँ, उसीका यह परिणाम है!

तात्पर्य है कि जब मनुष्य सच्चे हृदयसे भगवान्‌की शरण हो जाता है, तब भगवान्‌पर उसके उद्धारकी जिम्मेवारी आ जाती है। सच्चे हृदयसे 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' ऐसा स्वीकार करनेमात्रसे कल्याण हो जाता है; क्योंकि वास्तवमें सभी भगवान्‌के ही हैं। महाभारतमें आया है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

(शान्ति० ४७। ९२)

'भगवान् श्रीकृष्णको एक बार भी प्रणाम किया जाय तो वह दस अश्वमेध यज्ञोंके अन्तमें किये गये स्नानके समान फल

देनेवाला होता है। इसके सिवाय प्रणाममें एक विशेषता है कि दस अश्वमेध करनेवालेका तो पुनः संसारमें जन्म होता है, पर श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवाला अर्थात् उनकी शरणमें जानेवाला फिर संसार-बन्धनमें नहीं आता।'

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए॥

(मानस, अयोध्या० २९९। १-२)

सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि कोउ न देत बिनु पाये।
कोसलपालु कृपालु कलपतरु, द्रवत सकृत सिर नाये॥

(विनयपत्रिका १६३। २)

भगवान्‌की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं—

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(श्रीमद्भा० १०। १४। ८)

'जो हृदय, वाणी तथा शरीरसे आपको नमस्कार करता रहता है, वह आपके परमपदका ठीक वैसे ही अधिकारी हो जाता है, जैसे पिताकी सम्पत्तिका पुत्र!'

नमस्कार से रामदास, करम सभी कट जाय।
जाय मिले परब्रह्ममें, आवागमन मिटाय॥

भगवान्‌को प्रणाम करना उनकी शरणागति है। प्रणाम करनेका तात्पर्य है—'मैं आपका हूँ; अतः आप जो भी विधान करें, मुझे स्वीकार है।' गीतामें भी कई जगह नमस्कार करनेकी बात आयी है; जैसे—'**मां नमस्कुरु**' (९। ३४, १८। ६५), '**नमस्यन्तश्च मां भक्त्या**' (९। १४), '**सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः**' (११। ३६) आदि। हमारी संस्कृति ही शरणागति-प्रधान है। शिष्य गुरुको प्रणाम करता है, पुत्र माता-पिताको प्रणाम करता है, स्त्री पतिको

प्रणाम करती है, नौकर मालिकको प्रणाम करता है, प्रजा राजाको प्रणाम करती है आदि। मनुस्मृतिमें आया है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(२। १२१)

'जिसका प्रणाम करनेका स्वभाव है और जो नित्य वृद्धोंकी सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं।'

महाभारत-युद्धके आरम्भमें युधिष्ठिर अपने विपक्षमें खड़े पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य आदिके पास जाकर उनको प्रणाम करते हैं और उनसे युद्धके लिये आज्ञा माँगते हैं। इससे प्रसन्न होकर वे युधिष्ठिरको युद्धमें विजय होनेका वरदान देते हैं। प्रणामकी इतनी महिमा है कि ऊँचे-से-ऊँचे महात्मा जिस **'वासुदेवः सर्वम्'** (सब कुछ भगवान् ही हैं)-का अनुभव करते हैं, वह भी सबको प्रणाम करनेसे सुगमतापूर्वक अनुभवमें आ जाता है (श्रीमद्भा० ११। २९। १६—१९)।

शरणागति एक ही बार होती है और सदाके लिये होती है। एक बार 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' ऐसा कहनेके बाद फिर और क्या कहना शेष रह गया? एक बार अपने-आपको दे दिया तो फिर दुबारा क्या देना शेष रह गया?

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥

(महाभारत, वन० २९४। २६; मनुस्मृति ९। ४७)

'कुटुम्बमें धन आदिका बँटवारा एक ही बार होता है, कन्या एक ही बार दी जाती है और किसी वस्तुको देनेकी प्रतिज्ञा भी एक ही बार की जाती है। सत्पुरुषोंके ये तीनों कार्य एक ही बार हुआ करते हैं।'

सिंह गमन सज्जन वचन, कदलि फलै इक बार।

प्रणाम करती है, नौकर मालिकको प्रणाम करता है, प्रजा राजाको प्रणाम करती है आदि। मनुस्मृतिमें आया है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(२। १२१)

'जिसका प्रणाम करनेका स्वभाव है और जो नित्य वृद्धोंकी सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं।'

महाभारत-युद्धके आरम्भमें युधिष्ठिर अपने विपक्षमें खड़े पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य आदिके पास जाकर उनको प्रणाम करते हैं और उनसे युद्धके लिये आज्ञा माँगते हैं। इससे प्रसन्न होकर वे युधिष्ठिरको युद्धमें विजय होनेका वरदान देते हैं। प्रणामकी इतनी महिमा है कि ऊँचे-से-ऊँचे महात्मा जिस '**वासुदेवः सर्वम्**' (सब कुछ भगवान् ही हैं)-का अनुभव करते हैं, वह भी सबको प्रणाम करनेसे सुगमतापूर्वक अनुभवमें आ जाता है (श्रीमद्भा० ११। २९। १६—१९)।

शरणागति एक ही बार होती है और सदाके लिये होती है। एक बार 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' ऐसा कहनेके बाद फिर और क्या कहना शेष रह गया? एक बार अपने-आपको दे दिया तो फिर दुबारा क्या देना शेष रह गया?

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥

(महाभारत, वन० २९४। २६; मनुस्मृति ९। ४७)

'कुटुम्बमें धन आदिका बँटवारा एक ही बार होता है, कन्या एक ही बार दी जाती है और किसी वस्तुको देनेकी प्रतिज्ञा भी एक ही बार की जाती है। सत्पुरुषोंके ये तीनों कार्य एक ही बार हुआ करते हैं।'

सिंह गमन सज्जन वचन, कदलि फलै इक बार।

तिरिया तेल हम्मीर हठ, चढ़ै न दूजी बार॥

जैसे विवाह होनेपर स्त्री मान लेती है कि अब मैं ससुरालकी हो गयी, पीहरकी नहीं रही, ऐसे ही 'हे नाथ! मैं आपका हूँ' ऐसा कहकर मान ले कि अब मैं भगवान्‌का हो गया, संसारका नहीं रहा। मैं जहाँ रहता हूँ, वह भगवान्‌का घर है; जो काम करता हूँ, वह भगवान्‌का काम है; जो पाता हूँ, वह भगवान्‌का प्रसाद है और जिन माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदिका पालन करता हूँ, वे भगवान्‌के ही जन हैं। जैसे विवाह होनेपर स्त्रीका गोत्र बदल जाता है, पतिका गोत्र ही उसका गोत्र हो जाता है, ऐसे ही शरणागत भक्तका 'अच्युतगोत्र' हो जाता है। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—***'साह ही को गोतु गोतु होत है गुलामको'*** (कवितावली, उत्तर० १०७)।

जैसे पहलवान मनुष्यके किसी अंगमें कोई कमजोरी हो तो उसको पकड़ लेनेसे वह हार जाता है, ऐसे ही भगवान्‌की भी एक कमजोरी है, जिसको पकड़ लेनेसे वे इधर-उधर नहीं हो सकते, हार जाते हैं! वह कमजोरी है—एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीका सहारा न लेना अर्थात् अनन्यभावसे भगवान्‌की शरण लेना—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस, अरण्य० १०। ४)

मीराबाईने कहा है—***'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'***। ***'मेरे तो गिरधर गोपाल'***—यह तो सब कह देते हैं, पर **'दूसरो न कोई'**—यह नहीं कहते, प्रत्युत माता-पिता, भाई-बन्धु, कुटुम्बी, धन-सम्पत्ति, विद्या, योग्यता आदि किसी-न-किसीका आश्रय भी साथमें रखते हैं। जैसे किसी राजाका बेटा दूसरोंसे भीख माँगने लगे तो वह राजाको नहीं सुहाता, ऐसे ही सत्-चित्-आनन्दरूप भगवान्‌का अंश जीव जब असत्-जड-दुःखरूप संसारका आश्रय लेता है तो वह भगवान्‌को नहीं सुहाता; क्योंकि इसमें जीवका महान् अहित

है। भगवान्‌को वही प्यारा लगता है, जो अन्यका आश्रय नहीं लेता—*'सो प्रिय जाकें गति न आन की।'* भगवान् कहते हैं—**'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः'** (गीता १२। १४) 'मेरेमें अर्पित मन-बुद्धिवाला जो मेरा भक्त है, वह मेरेको प्रिय है।'

सर्वथा भगवान्‌की शरण हो जायँ तो फिर वे छोड़ नहीं सकते। परन्तु जो भगवान्‌के सिवाय अन्यका सहारा रखता है, धन, बल, बुद्धि, योग्यता, वर्ण-आश्रम, विद्या आदिका सहारा रखता है, तो फिर भगवान् उसकी पूरी रक्षा नहीं करते। जब वह पूरी शरण हुआ ही नहीं, तो फिर उसकी पूरी रक्षा कैसे करें? इसलिये भगवान् कहते हैं—**'मामेकं शरणं व्रज'** 'केवल मेरी शरणमें आ'। परन्तु शरणागतके भीतर ऐसी दृढ़ता रहनी चाहिये कि भगवान् भले ही मेरी रक्षा न करें, मेरी कितनी ही हानि हो जाय, चाहे शरीर नष्ट हो जाय, तो भी आश्रय भगवान्‌का ही रखूँगा! चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

(शिक्षाष्टक ८)

'वे चाहे मुझे हृदयसे लगाकर हर्षित करें या चरणोंमें लिपटे हुए मुझे पैरोंतले रौंद डालें अथवा दर्शन न देकर मर्माहत ही करें। वे परम स्वतन्त्र श्रीकृष्ण जैसे चाहें वैसे करें, मेरे तो वे ही प्राणनाथ हैं, दूसरा कोई नहीं।'

शरणागति अत्यन्त सुगम साधन है। जैसे मनुष्य नींद लेता है तो उसको नींद लेनेके लिये न तो कोई पुरुषार्थ करना पड़ता है, न कोई परिश्रम करना पड़ता है, न कुछ याद करना पड़ता है, न कोई कार्य करना पड़ता है, प्रत्युत सब कुछ छोड़ना पड़ता है। सब कुछ छोड़ दें तो नींद स्वतः आ जाती है। इसी तरह अपने बल, बुद्धि, विद्या, योग्यता आदिका कोई अभिमान न रखें, कोई आश्रय न रखें तो शरणागति

स्वत: हो जाती है, उसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता। कारण कि वास्तवमें जीवमात्र भगवान्‌के ही शरणागत हैं। भगवान् सबको अपना मानते हैं—*'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'* (मानस, उत्तर० ८६। २)। परन्तु जीव अभिमान करके भगवान्‌से दूर हो जाता है अर्थात् अपनेको भगवान्‌से दूर मान लेता है। अत: अपने बल, योग्यता, वर्ण, आश्रम आदिका अभिमान अथवा सहारा शरणागतिमें महान् बाधक है। यदि अभिमान न छूटे तो इसके लिये आर्तभावपूर्वक भगवान्‌से ही प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे नाथ! मैं अभिमान छोड़ना चाहता हूँ, पर मेरेसे छूटता नहीं, क्या करूँ!' तो वे छुड़ा देंगे। जो काम हमारे लिये कठिन-से-कठिन है, वह भगवान्‌के लिये सुगम-से-सुगम है। अत: अपनेमें कोई दोष दीखे तो भगवान्‌को ही पुकारना चाहिये, अपने दोषको महत्त्व न देकर शरणागतिको ही महत्त्व देना चाहिये। शरणागतिको महत्त्व देनेसे दोष स्वत: दूर हो जाते हैं।

शरणागत भक्तके लिये साधन भी भगवान् हैं, साध्य भी भगवान् हैं और सिद्धि भी भगवान् हैं। इसलिये गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोग और ज्ञानयोगकी निष्ठा तो बतायी है, पर भक्तियोगकी निष्ठा नहीं बतायी है*। कारण कि कर्मयोगी और ज्ञानयोगीकी तो खुदकी निष्ठा होती है, पर भक्तकी खुदकी निष्ठा नहीं होती, प्रत्युत भगवान्‌की ही निष्ठा होती है। भक्त साधननिष्ठ न होकर भगवन्निष्ठ होता है। जैसे, बँदरीका बच्चा खुद माँको पकड़ता है, पर बिल्लीका बच्चा माँको नहीं पकड़ता, प्रत्युत माँ ही उसको पकड़कर जहाँ चाहे, वहाँ ले जाती है। शरणागत भक्त भी बिल्लीके बच्चेकी तरह अपने बलका सहारा नहीं लेता, अपने बलका अभिमान नहीं करता। हनुमान्‌जी भक्तिके आचार्य होते हुए

---

* लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (गीता ३। ३)

भी अभिमान न होनेके कारण कहते हैं—*'जानउँ नहिं कछु भजन उपाई'* (मानस, किष्किन्धा० ३। २)। 'अतुलित-बलधाम' होते हुए भी उनको अपना बल याद नहीं है। जाम्बवान्‌ने उनसे कहा—

पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥
कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं॥

(मानस, किष्किन्धा० ३०। २-३)

जाम्बवान्‌से इतनी प्रशंसा सुनकर भी हनुमान्‌जी चुप रहे। परन्तु जब जाम्बवान्‌ने कहा कि आपका अवतार ही रामजीका काम करनेके लिये हुआ है, तब हनुमान्‌जीको तत्काल अपना सब बल याद आ गया—

राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भयउ पर्बताकारा॥

(मानस, किष्किन्धा० ३०। ३)

हनुमान्‌जी समुद्रको लाँघनेके लिये तैयार हो गये कि रामजीका काम तो रामजीकी कृपासे होगा, उसमें अपनी योग्यता-अयोग्यताको क्यों देखें? जहाँ अपने बलका अभिमान नहीं होता, वहाँ भगवान्‌का बल काम करता है। अभिमान होनेसे ही बाधा लगती है।

जब कभी अपनेमें अभिमान आ जाय, हमारी वृत्तियाँ खराब हो जायँ, मनमें कोई कामना उत्पन्न हो जाय तो उसको दूर करनेका सबसे सुगम और बढ़िया उपाय है—भगवान्‌से कह देना। मन-ही-मन भगवान्‌से कहे कि 'हे नाथ! देखिये, देखिये, मेरे मनमें कामना आ गयी! मेरे मनकी दशा देखिये भगवन्! मेरे मनमें ऐसी वृत्ति आ गयी, ऐसा संकल्प आ गया! हे नाथ, मैं आपका भजन-ध्यान करता हूँ, लोग मेरेको आपका भक्त मानते हैं, अच्छा मानते हैं, पर मेरी दशा यह है!' जैसे अग्निके साथ सम्बन्ध होनेपर काला कोयला भी चमक उठता है; क्योंकि वास्तवमें कोयलेका सम्बन्ध तो अग्निसे ही है, पर अग्निसे दूर होनेपर वह काला हो जाता है। ऐसे ही भगवान्‌के साथ सम्बन्ध

होनेपर मनुष्यके सब दोष मिट जाते हैं और वह चमक उठता है, उसमें विलक्षणता आ जाती है; क्योंकि वास्तवमें मनुष्यका सम्बन्ध तो भगवान्‌के साथ ही है। भगवान्‌की कृपा असम्भवको भी सम्भव बना देती है। ऐसे '**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः**' भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लिया जाय तो फिर किस बातकी चिन्ता? भगवान् अपने शरणागत भक्तका सब काम कर देते हैं—'***सब बिधि घटब काज मैं तोरें***', '**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि**'।

बल, बुद्धि, योग्यता आदि किसी भी चीजका किंचिन्मात्र भी आश्रय लेना मनुष्यकी कमजोरी है; क्योंकि अन्यका आश्रय लेना कमजोरका ही काम है। परन्तु भगवान्‌का आश्रय लेना कमजोरी नहीं है, प्रत्युत वास्तविकता है। कारण कि भगवान्‌का अंश होनेसे जीव स्वतः-स्वाभाविक भगवान्‌के आश्रित है। जब वह अपने अंशी भगवान्‌से विमुख होकर प्रकृतिके अंश (शरीर-संसार)-का आश्रय ले लेता है, तब वह कमजोर, पराधीन, असहाय, अनाथ हो जाता है। इसलिये अपने बलका आश्रय लेनेवाला मनुष्य अभिमान तो करता है कि मैं यों कर दूँगा! ऐसे कर दूँगा! पर जब पेशाब रुक जाता है, तब डॉक्टरके पास भागता है! अपनी शक्तिका अभिमान तो करता है, पर दशा यह है कि पेशाब करनेकी भी शक्ति नहीं है! वास्तवमें संसारका आश्रय लेनेवाला कुछ नहीं कर सकता। परन्तु जो भगवान्‌का आश्रय लेता है, वह सब कुछ कर सकता है। वह असम्भवको भी सम्भव कर सकता है; क्योंकि भगवान्‌की सब शक्ति शरणागतमें आ जाती है। भगवान्‌की शरण लेनेसे नारदजीने कामदेवको जीत लिया—

काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी। निज भयँ डरेउ मनोभव पापी॥
सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥

(मानस, बाल० १२६। ४)

शक्ति तो भगवान्‌की थी, पर नारदजीमें अभिमान आ गया

कि मैंने अपनी शक्तिसे कामको जीत लिया—*'जिता काम अहमिति मन माहीं'* (मानस, बाल० १२७। ३)। अभिमान आते ही वह बात नहीं रही और वे विश्वमोहिनी कन्यापर मोहित हो गये—*'करौं जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरै कुमारी॥'* (मानस, बाल० १३१। ४)। अपने बलका अभिमान आते ही *'हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला'*—यह दशा हो गयी!

मनुष्यमें जो भी विशेषता, विलक्षणता आती है, वह सब भगवान्‌से ही आती है। भगवान् कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(गीता १०। ४१)

यदि भगवान्‌में विशेषता, विलक्षणता न होती तो वह मनुष्यमें कैसे आती? जो चीज अंशीमें नहीं है, वह अंशमें कैसे आ सकती है? मनुष्यसे यही भूल होती है कि वह उस विशेषताको अपनी विशेषता मानकर अभिमान कर लेता है और जहाँसे वह विशेषता आयी है, उस तरफ देखता ही नहीं! मिली हुई चीजको अपनी मान लेता है, पर उसे देनेवालेको अपना मानता ही नहीं! वास्तवमें वस्तु अपनी नहीं है, प्रत्युत उसको देनेवाले भगवान् अपने हैं। उन भगवान्‌के ही चरणोंकी शरण लेनी है।

वास्तवमें हम सब-के-सब सदासे ही भगवान्‌के हैं, उनके ही शरणागत हैं। इसीलिये कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं कह सकता कि मैंने अपनी मरजीसे इन माता-पिताके यहाँ जन्म लिया है और मैं अपनी मनचाही वस्तु, परिस्थिति आदि प्राप्त कर सकता हूँ। कारण कि यह सब भगवान्‌के हाथमें है। इसमें हमारी मरजी काम नहीं करती, प्रत्युत भगवान्‌की ही मरजी काम करती है।

करी गोपाल की सब होइ।
जो अपनौं पुरुषारथ मानत, अति झूठौ है सोइ॥

साधन, मंत्र, जंत्र, उद्यम, बल, ये सब डारौ धोइ।
जो कुछ लिखि राखी नँदनंदन, मेटि सकै नहिं कोइ॥
दुख-सुख, लाभ-अलाभ समुझि तुम, कतहिं मरत हौं रोइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, स्याम चरन मन पोइ॥

(सूरविनय० २७६)

सब कुछ भगवान् ही करते हैं; क्योंकि उन्होंने सदासे ही हमें अपनी शरणमें ले रखा है। अब हमें केवल उनकी शरणागति स्वीकार करनी है, उनकी हाँ-में-हाँ मिलानी है, उनकी मरजीमें अपनी मरजी मिलानी है।

भगवान्‌की तरफसे तो हम सब उनके ही हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७), ***'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'*** (मानस, उत्तर० ८६। २)। परन्तु हम अपनी तरफसे संसारके बन जाते हैं। अतः वास्तवमें हमें भगवान्‌के शरणागत नहीं होना है, प्रत्युत संसारकी शरणागतिका त्याग करना है, अपनी भूलको मिटाना है। गीता सुननेसे अर्जुनकी भी भूल मिट गयी और उनको 'मैं तो सदासे भगवान्‌का ही हूँ'—ऐसी स्मृति प्राप्त हो गयी। अर्जुन कहते हैं—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

(गीता १८। ७३)

'हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और स्मृति प्राप्त हो गयी है। मैं सन्देहरहित होकर स्थित हूँ। अब मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

भगवान्‌ने कहा—'**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**' तो अर्जुनने कहा—'**करिष्ये वचनं तव**'। तात्पर्य है कि शरण लेनेके बाद मनुष्यका काम है—भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना।

कर्मयोगमें निष्कामभावकी स्मृति होती है, ज्ञानयोगमें

स्वरूपकी स्मृति होती है और भक्तियोगमें भगवान्‌के साथ आत्मीयताकी स्मृति होती है, जो कि सदासे ही है।

भगवान्‌के साथ कर्मयोगीका 'नित्य'-सम्बन्ध होता है, ज्ञानयोगीका 'तात्त्विक'-सम्बन्ध होता है और शरणागत भक्तका 'आत्मीय'-सम्बन्ध होता है। नित्य-सम्बन्धमें संसारके अनित्य सम्बन्धका त्याग है, तात्त्विक-सम्बन्धमें तत्त्वके साथ एकता (तत्त्वबोध) है और आत्मीय-सम्बन्धमें भगवान्‌के साथ अभिन्नता (प्रेम) है। नित्य-सम्बन्धमें शान्तरस है, तात्त्विक-सम्बन्धमें अखण्डरस है और आत्मीय-सम्बन्धमें अनन्तरस है। अनन्तरसकी प्राप्ति हुए बिना जीवकी भूख सर्वथा नहीं मिटती। अनन्तरसकी प्राप्ति शरणागतिसे होती है। इसलिये शरणागति सर्वश्रेष्ठ साधन है।

गीतामें कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी आदि कई तरहके योगियोंका वर्णन आया है, पर भगवान्‌ने केवल भक्तियोगीको अर्थात् शरणागत भक्तको ही दुर्लभ महात्मा बताया है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तमें 'सब कुछ वासुदेव ही हैं'—ऐसा जो ज्ञानवान् मेरी शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।'

भगवान् महात्माको तो दुर्लभ बताते हैं, पर अपनेको सुलभ बताते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे पार्थ! अनन्यचित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

हरि दुरलभ नहिं जगतमें, हरिजन दुरलभ होय।
हरि हेर्‌याँ सब जग मिलै, हरिजन कहिं एक होय॥
हरि से तू जनि हेत कर, कर हरिजन से हेत।
हरि रीझै जग देत हैं, हरिजन हरि ही देत॥

संसारमें भगवान् दुर्लभ नहीं हैं, प्रत्युत उनके शरणागत भक्त दुर्लभ हैं। कारण कि भगवान्‌को ढूँढ़ें तो वे सब जगह मिल जायँगे, पर भगवान्‌का प्यारा भक्त कहीं-कहीं ही मिलेगा। भगवान् प्रसन्न होकर मनुष्यशरीर देते हैं तो उस शरीरसे जीव नरकोंमें भी जा सकता है[१]; परन्तु भक्त तो भगवान्‌की ही प्राप्ति कराता है। भक्तका संग करनेवाला नरकोंमें नहीं जा सकता।

गीताके अठारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने भगवान्‌से ज्ञानयोग और कर्मयोगका तत्त्व ही पूछा था। परन्तु भगवान्‌ने उन दोनोंका तत्त्व पचपनवें श्लोकतक बताकर फिर कृपापूर्वक अपनी तरफसे भक्तिका वर्णन शुरू कर दिया और कहा—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(गीता १८। ५६)

'मेरा आश्रय लेनेवाला भक्त सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है।'

ज्ञानयोगीके लिये तो भगवान्‌ने बताया कि वह सब विषयोंका त्याग करके संयमपूर्वक निरन्तर ध्यानके परायण रहे, तब वह अहंता, ममता, काम, क्रोध आदिका त्याग करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र होता है[२]। परन्तु भक्तके लिये

---

१. नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥
(मानस, उत्तर० १२१। ५)

२. बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥

उपर्युक्त श्लोकमें बताया कि वह अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार सब विहित कर्मोंको सदा करते हुए भी मेरी कृपासे परमपदको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि उसने मेरा आश्रय लिया है— '**मद्व्यपाश्रयः।**' तात्पर्य है कि भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेनेसे सुगमतासे कल्याण हो जाता है। भक्तको अपना कल्याण खुद नहीं करना पड़ता, प्रत्युत प्रभु-कृपा उसका कल्याण कर देती है—'**मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।**'

भगवान्‌की शरणमें जानेका काम तो भक्तका है, पर शरणागतिकी सिद्धि भगवान्‌की कृपासे होती है। अहंताको बदलनेकी उत्कण्ठा तो भक्तकी होती है, पर बदलनेका काम भगवान् करते हैं। जैसे बच्चेकी इच्छा माँ पूरी कर देती है, ऐसे ही भक्तकी इच्छा (उत्कण्ठा)-को भगवान् पूरी कर देते हैं। गीतामें आया है—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

(७। २१)

'जो-जो भक्त जिस-जिस देवताका श्रद्धापूर्वक पूजन करना चाहता है, उस-उस देवताके प्रति मैं उसकी श्रद्धाको दृढ़ कर देता हूँ।'

जब भगवान् दूसरे देवताओंमें मनुष्यकी श्रद्धाको दृढ़ कर देते हैं, तो फिर अपनेपर श्रद्धा करनेवाले भक्तोंकी श्रद्धाको वे

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता १८। ५१—५३)

दृढ़ क्यों नहीं करेंगे? अवश्य करेंगे। इसलिये आया है—

राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥

(मानस, अयोध्या० २१९। ४)

जीवमात्र किसी-न-किसीका आश्रय चाहता है कि कोई मुझे अपनानेवाला मिल जाय, मेरी सहायता करनेवाला मिल जाय, मेरी रक्षा करनेवाला मिल जाय, मेरा पालन करनेवाला मिल जाय, मेरा दुःख दूर करनेवाला मिल जाय, मेरे भयको हरनेवाला मिल जाय, मेरे सन्तापको हरनेवाला मिल जाय, मेरेको तत्त्वज्ञान देनेवाला मिल जाय, मेरा उद्धार करनेवाला मिल जाय, आदि-आदि। कोई कुटुम्बका आश्रय लेता है, कोई धनका आश्रय लेता है, कोई अपनी विद्या-बुद्धिका आश्रय लेता है, कोई अपनी योग्यता आदिका आश्रय लेता है और कोई अपने पुरुषार्थका आश्रय लेता है कि मैं सब कुछ कर लूँगा। ऐसे अनेक तरहके आश्रय हैं, पर ये सब-के-सब नष्ट होनेवाले हैं। परन्तु भगवान्‌का आश्रय अविनाशी है और अविनाशी पदकी प्राप्ति करानेवाला है।

जो मनुष्योंमें भी नीचे हैं, जन्मसे भी नीचे हैं, कर्मसे भी नीचे हैं, योग्यतासे भी नीचे हैं और जो पशु-पक्षी आदि जंगम तथा वृक्ष-लता आदि स्थावर जीव हैं, वे भी यदि भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ले लें तो भगवत्कृपासे उनका भी उद्धार हो जाता है! भगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

(गीता ९। ३२-३३)

'हे पार्थ! जो भी पापयोनिवाले हों तथा जो भी स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र हों, वे भी सर्वथा मेरी शरण होकर निःसन्देह परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। फिर जो पवित्र आचरणवाले ब्राह्मण और ऋषिस्वरूप क्षत्रिय मेरे भक्त हों, वे परमगतिको प्राप्त हो जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है!'

इस प्रकार गीतामें शरणागतिका भाव बहुत विलक्षण रीतिसे आया है। भगवान्‌ने संसारकी सम्पूर्ण अच्छी-अच्छी बातोंका सार गीतामें संग्रह कर दिया है, मानो गागरमें सागर भर दिया है! उनमें भी शरणागति सम्पूर्ण गीताका सार है। उस शरणागतिको यदि कोई स्वीकार कर ले तो वह निहाल हो जायगा। उसमें बड़ी विलक्षणता आ जायगी। उसके भीतर बिना पढ़े वेदोंका तात्पर्य स्वतः स्फुरित हो जायगा। उसके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहेगा। अतः शरणागतिकी अनन्त, अपार महिमा है!

~~○~~

६. गीताका अनासक्तियोग

'योग' शब्दके कई अर्थ होते हैं। व्याकरणकी दृष्टिसे 'योग' शब्द तीन धातुओंसे बनता है—

(१) **'युजिर् योगे'**—सम्बन्ध अर्थात् भगवान्‌के साथ नित्य-सम्बन्ध।

(२) **'युज् समाधौ'**—समाधिमें स्थिति।

(३) **'युज् संयमने'**—संयमन अर्थात् सामर्थ्य, प्रभाव।

इस प्रकार 'योग' शब्दके भीतर सम्बन्ध, समाधि (एकाग्रता) और सामर्थ्य—तीनों बातें हैं। यद्यपि गीतामें 'योग' शब्द उपर्युक्त तीनों अर्थोंमें आया है, तथापि मुख्यरूपसे यह भगवान्‌के साथ नित्य-सम्बन्ध (नित्ययोग)-के अर्थमें आया है—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्। (गीता ६। २३)

'जिसमें दुःखोंके संयोगका वियोग है, उसको योग नामसे जानना चाहिये।'

संसारके जितने भी सम्बन्ध हैं, वे सब-के-सब बिछुड़नेवाले हैं। संसारके सब संयोगोंका वियोग होनेवाला है। अभी जो संयोग दीखता है, वह पहले नहीं था और आगे नहीं रहेगा, बीचमें ही संयोग दीखता है। इसमें संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है। संसारके साथ वियोग नित्य है और परमात्माके साथ योग नित्य है। अतः संसारके साथ वियोग ही परमात्माके साथ योग है और परमात्माके साथ योग ही संसारके साथ वियोग है। हम मानें चाहे न मानें, स्वीकार करें चाहे न करें, दृष्टि डालें चाहे न डालें; परन्तु भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध नित्य है। उस नित्य-सम्बन्धका हमें अनुभव क्यों नहीं हो रहा है? कारण कि जिनका वियोग नित्य है, उनमें हमने आसक्ति कर ली। हम जानते हैं कि शरीर, धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-परिवार, आदर-सत्कार, मान-अपमान आदि

रहनेवाले नहीं हैं, प्रत्युत जानेवाले हैं, इनका वियोग निश्चित है, फिर भी हमने भूलसे इन चीजोंमें प्रियता पैदा कर ली अर्थात् इनमें आसक्ति कर ली कि इनके साथ हमारा सम्बन्ध नित्य बना रहे। यदि इन चीजोंमें हमारी अनासक्ति हो जाय तो योगका अर्थात् परमात्माके साथ हमारे नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जायगा। उस परमात्माके साथ कभी किसी जीवका वियोग हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, होना सम्भव ही नहीं। अतः 'अनासक्तियोग' का अर्थ हुआ—जिसके साथ कभी हमारा संयोग हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, होना सम्भव ही नहीं, उस संसारसे अनासक्ति होकर योग (परमात्माके नित्य-सम्बन्ध)-का अनुभव हो जाना।

आसक्ति मिटनेपर संसारके अभाव (नित्यवियोग)-का और परमात्माके भाव (नित्ययोग)-का अनुभव हो जाता है। गीतामें आया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (२।१६)

'असत्का तो भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत्का अभाव विद्यमान नहीं है।'

तात्पर्य है कि असत्-वस्तुका अभाव नित्य है और सत्-वस्तुका भाव नित्य है। अभी भले ही संसारका संयोग दीखे, पर अन्तमें वह वियोगमें ही परिणत होगा। परन्तु परमात्माके साथ वियोग दीखते हुए भी उनके साथ नित्ययोग है। नाशवान्के साथ जो माना हुआ संयोग है, वह बना रहे—यह इच्छा ही नित्ययोगके अनुभवमें बाधक है।

विचार करें, एक समय हम अपनेको बालक कहते थे, पर उस बालकपनके साथ हमारा स्वतः वियोग हो गया, हमने वियोग किया नहीं। यह कोई नहीं कह सकता कि अमुक तारीखको मैंने बालकपन छोड़ दिया। जैसे बालकपनका स्वतः वियोग हो गया, ऐसे ही जवानी और वृद्धावस्थाका भी स्वतः वियोग हो जायगा। इस प्रकार प्रत्येक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति,

घटना आदिका प्रतिक्षण स्वतः वियोग हो रहा है। परन्तु आसक्तिके कारण इनके साथ संयोग दीख रहा है।

जिनका वियोग अवश्यम्भावी है, उनको हम अपना मान लेते हैं, उनसे सुख लेना चाहते हैं, उनमें हमारा मन चिपक जाता है, उनको हम नित्य रखना चाहते हैं, उनमें प्रियता पैदा हो जाती है, उनमें मन खिंचता है—यह 'आसक्ति' कहलाती है। यही आसक्ति जब भगवान्‌में हो जाती है, तब इसको 'प्रेम' कहते हैं। आसक्ति होनेसे संसार नित्य दीखता है और प्रेम होनेसे परमात्मा नित्य दीखते हैं। आजकल लोगोंने संसारकी आसक्तिका नाम 'प्रेम' रख दिया है, यह बहुत बड़ी गलती है। प्रेम सदा अविनाशीमें ही होता है, नाशवान्‌में नहीं।

जिन शरीर, कुटुम्बी, अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिके साथ हम अपना सम्बन्ध मानते हैं, वह सम्बन्ध पहले भी नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी उसका निरन्तर वियोग हो रहा है। इस निरन्तर होनेवाले वियोगमें कभी नागा नहीं होता, कभी छुट्टी नहीं होती, कभी अनध्याय नहीं होता, कभी विश्राम नहीं होता। ऐसा होनेपर भी इनके साथ संयोग दीखता है—यही आसक्ति है। यह आसक्ति ही बाँधनेवाली है—

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ (गीता १३। २१)

'गुणोंका संग ही इस मनुष्यके ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण बनता है।'

तात्पर्य है कि गुणोंका संग, आसक्ति, प्रियता ही हमें बाँधनेवाली है, परमात्मासे वियोगका अनुभव करानेवाली है।

आसक्तिके ही कारण हमें सुख और दुःख, अनुकूलता और प्रतिकूलता—दोनों अलग-अलग दीखते हैं। आसक्ति मिटनेपर दोनों समान हो जाते हैं; क्योंकि सुख भी ठहरनेवाला नहीं है

और दुःख भी ठहरनेवाला नहीं है। सुख आते हुए अच्छा लगता है, जाते हुए बुरा लगता है और दुःख आते हुए बुरा लगता है, जाते हुए अच्छा लगता है। अतः दोनोंमें कोई भेद नहीं है। एक श्लोक आता है—

शत्रुर्दहति संयोगे वियोगे मित्रमप्यहो।
उभयोर्दुःखदायित्वे को भेदः शत्रुमित्रयोः॥

'शत्रु संयोगमें दुःख देता है और मित्र वियोगमें दुःख देता है; दोनों ही दुःख देनेवाले हैं; अतः दोनोंमें क्या भेद हुआ?'

आसक्ति ही इन दोनोंमें भेद पैदा करती है और यही संसारमें बाँधती है। अनासक्त होते ही भगवान्‌के साथ नित्य-सम्बन्धका अनुभव स्वतः हो जाता है और भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़नेसे आसक्ति मिट जाती है। कर्मयोग और ज्ञानयोग आसक्तिका नाश करते हैं और आसक्तिका नाश होनेपर भगवान्‌के साथ सम्बन्ध हो जाता है। भक्तियोग भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ता है और सम्बन्ध जुड़नेपर संसारकी आसक्तिका नाश हो जाता है। इसलिये गीताने 'योग' की दो परिभाषाएँ दी हैं—'**दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (६। २३) और '**समत्वं योग उच्यते**' (२। ४८)*। तात्पर्य है कि संसारके वियोगका नाम भी योग है और परमात्माके नित्ययोगका नाम भी योग है। संसारका वियोग नित्य-निरन्तर रहता है और परमात्माका योग नित्य-निरन्तर रहता है। जो नित्य-निरन्तर रहता है, उसीको 'समता' कहते हैं। वह समता परमात्माका स्वरूप है—'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म**' (गीता ५। १९)। संसारका वियोग होनेपर परमात्माके योगका अनुभव हो जाता है और परमात्माके योगका अनुभव होनेपर संसारके साथ वियोग हो जाता है।

* 'योगः कर्मसु कौशलम्' (गीता २। ५०)—यह योगकी महिमा है, परिभाषा नहीं।

हमारे सामने दो चीजें हैं—नित्य और अनित्य। विचार करें, हम जो बालकपनमें थे, वही हम आज भी हैं; परन्तु वह शरीर नहीं रहा, वह स्थान नहीं रहा, वह समय नहीं रहा, वे साथी नहीं रहे, वह अवस्था नहीं रही, वह परिस्थिति नहीं रही, वे भाव नहीं रहे, सबके साथ वियोग हो गया। जैसे गंगाजीका प्रवाह नित्य-निरन्तर बहता रहता है, ऐसे ही संसार नित्य-निरन्तर बह रहा है, एक क्षण भी स्थिर नहीं होता। नित्य-निरन्तर बहते हुए अभाव (नाश)-में जा रहा है। हम जितने वर्षोंके हो गये, उतने वर्ष बीत गये हैं। शरीरको लेकर कहते हैं कि 'हम जी रहे हैं'—यह बिलकुल झूठी बात है! सच्ची बात तो यह है कि हम मर रहे हैं। हम कहते हैं कि पचास वर्षके हो गये तो वास्तवमें हमारी उम्रमेंसे पचास वर्ष खत्म हो गये। अब बाकी कितनी उम्र है—इसका तो पता नहीं, पर पचास वर्ष तो मर ही गये—इसमें सन्देह नहीं है। जब जन्मदिन आता है, तब हम बड़ा आनन्द मनाते हैं कि आज हम इतने वर्षके हो गये! वास्तवमें इतने वर्षके हो नहीं गये, प्रत्युत इतने वर्ष मर गये! तात्पर्य है कि शरीर और संसारके साथ हमारा नित्य-निरन्तर वियोग हो रहा है। इस वियोगका हम अनुभव कर लें तो परमात्माके नित्ययोगका अनुभव हो जायगा।

एक दृष्टान्त दिया जाता है। आपके घर लड़का भी जन्मता है और लड़की भी। आपके मनमें यह भाव रहता है कि लड़का तो रहनेवाला है और लड़की जानेवाली है। इसलिये लड़केमें आपकी जितनी आसक्ति होती है, उतनी लड़कीमें नहीं होती। लड़की घरपर रहनेवाली नहीं है—ऐसा निश्चय होनेपर उसका उतना मोह नहीं रहता। इसी तरह शरीर, पदार्थ, धन-सम्पत्ति, आदर-सत्कार, मान-बड़ाई आदि सब-की-सब कन्या है, जो आपके साथ रहनेवाली नहीं है। संसारमात्र आपसे निरन्तर अलग हो रहा है। यह अलग होना कभी बन्द नहीं होता। अन्तमें संसारका वियोग

हो जायगा—यह बिलकुल अकाट्य बात है। ब्रह्माकी आयुसे भी अधिक आयु मिल जाय तो भी संसारका संयोग किसीका भी कभी रह नहीं सकता। ऐसा होनेपर भी आसक्तिके कारण संसारका सम्बन्ध स्थिर प्रतीत होता है। इस आसक्तिको मिटाना ही मनुष्यका खास उद्देश्य है और इसीमें मनुष्यजन्मकी सफलता है; क्योंकि अन्य जन्मोंमें ऐसा विवेक सम्भव नहीं है।

मनसे वस्तुओंको अपना मानना ही ममता (आसक्ति) है। बाहरसे अर्थात् व्यवहारमात्रमें वस्तुओंको अपना मानना ममता नहीं है। व्यवहारमें अपनेपनका सम्बन्ध केवल सेवाके लिये ही रखना है। केवल एक-दूसरेकी सेवाके लिये माना हुआ सम्बन्ध बन्धनकारक नहीं होता। अपने स्वार्थके लिये माना हुआ सम्बन्ध ही बाँधनेवाला होता है।

संसारके साथ हमारा सम्बन्ध टिक नहीं सकता और परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध मिट नहीं सकता। परन्तु नाशवान्‌में आसक्तिके कारण हमें परमात्माके साथ अपने सम्बन्धका भान नहीं होता। नाशवान्‌में आसक्ति होनेपर फिर निरन्तर नाशवान्-ही-नाशवान्‌का सम्बन्ध दीखता है।

प्रश्न—नाशवान्‌की आसक्तिका नाश कैसे हो?

उत्तर—इसका बड़ा सीधा-सरल उपाय यह है कि जिन-जिनके साथ हमारी आसक्ति है, उन-उनकी सेवा करें और बदलेमें उनसे मान, आदर, सेवा, सत्कार, एहसान आदि कुछ भी न चाहें। जिन व्यक्तियोंमें अपनापन है, उन व्यक्तियोंकी सेवा करें। जिन पदार्थोंमें अपनापन है, उन पदार्थोंको सेवामें लगा दें। शरीरमें अपनापन है तो शरीरसे परिश्रम करके सेवा करें। जितना-जितना दूसरोंको सुख पहुँचानेका भाव पैदा हो जायगा, उतना-उतना हमारा वस्तुओंके साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा।

जब अधिकमास आता है, तब बहनें-माताएँ दान करनेके

लिये थाली, गिलास, कटोरी, लोटा, छाता, आसन, कपड़ा आदि वस्तुएँ इकट्ठा करती हैं। उनमेंसे एक कटोरी भी कोई बालक ले आता है तो वे कहती हैं कि अरे! यह देनेकी चीज है, अपनी चीज नहीं है। अपने ही पैसोंसे खरीदी हुई और अपने ही घरमें रखी हुई होनेपर भी हम उसको अपनी नहीं मानते और अपने काममें नहीं लेते। इसी तरह ये सब-की-सब वस्तुएँ सेवाके लिये हैं, अपने सुखभोगके लिये नहीं हैं—ऐसा निश्चय कर लें तो इस विषयमें आसक्ति मिट जायगी।

इस मनुष्यशरीरका फल सुख भोगना है ही नहीं—*'एहि तन कर फल बिषय न भाई'* (मानस ७। ४४। १)। यह तो केवल दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये, दूसरोंकी सेवा करनेके लिये ही है। अगर हम सेवामें लग जायँ, मात्र प्राणियोंके हितमें हमारी प्रीति हो जाय तो आसक्ति मिट जायगी—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'** (गीता १२। ४)।

एक सिद्धान्त है कि जो आदि और अन्तमें है, वह वर्तमानमें भी है[१] तथा जो आदि और अन्तमें नहीं है, वह वर्तमानमें भी नहीं है[२]। अगर वर्तमानमें हम अस्सी-नब्बे वर्षके हैं तो नब्बे वर्षसे पहले यह शरीर, घर, कुटुम्ब, धन हमारा नहीं था और नब्बे-

---

१. 'आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये॥'
(श्रीमद्भा० ११। २८। १८)

'इस संसारके आदिमें जो था तथा अन्तमें जो रहेगा, जो इसका मूल कारण और प्रकाशक है, वही परमात्मा बीचमें भी है।'

'यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्।'
(श्रीमद्भा० ११। २४। १७)

'जिसके आदि और अन्तमें जो है, वही बीचमें भी है और वही सत्य है।'

२. 'न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चान्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।'
(श्रीमद्भा० ११। २८। २१)

'जो उत्पत्तिसे पहले नहीं था और प्रलयके बाद भी नहीं रहेगा, ऐसा समझना चाहिये कि बीचमें भी वह है नहीं—केवल कल्पनामात्र, नाममात्र ही है।'

सौ वर्षोंके बाद हमारा नहीं रहेगा; अतः वर्तमानमें भी यह हमारा नहीं है। इसका निरन्तर वियोग हो रहा है। परन्तु परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध पहले भी था, आगे भी रहेगा और वर्तमानमें भी है। तात्पर्य है कि परमात्माका अंश होनेसे उनके साथ हमारा निरन्तर योग है। सुख लेनेके लिये हम नाशवान्‌से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं—इसका नाम आसक्ति है। हमें सुख लेना नहीं है, प्रत्युत सुख देना है। अगर हम केवल दूसरोंको सुख पहुँचानेमें, दूसरोंका हित करनेमें, दूसरोंकी सेवा करनेमें लग जायँ तो हमारी आसक्ति मिट जायगी। परन्तु गलती यह होती है कि हम सुख लेनेके लिये दूसरोंको सुख पहुँचाते हैं। जैसे व्यापारी मुनाफेके लिये वस्तुएँ खरीदता है और मुनाफेके लिये बिक्री करता है, ऐसे ही हम अपने सुखके लिये दूसरोंसे सम्बन्ध जोड़ते हैं और अपने सुखके लिये सम्बन्ध तोड़ते हैं। इस प्रकार हमने अपने सुखको ही पकड़ रखा है—यह आसक्ति है।

हमें नाशवान् सुख नहीं लेना है, प्रत्युत अविनाशी सुख लेना है। वह अविनाशी सुख (आनन्द) नित्यप्राप्त है। जैसे पृथ्वीपर रात और दिन दोनों होते हैं, पर सूर्यमें न रात है और न रातके साथ रहनेवाला दिन है। वहाँ तो नित्य दिन (प्रकाश) है। ऐसे ही संसारमें सुख और दुःख दो होते हैं, पर परमात्मामें न सुख है, न दुःख है, प्रत्युत नित्य सुख (आनन्द) है—

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥

(मानस १। ११६। ३)

वस्तुका त्याग नहीं करना है, प्रत्युत उससे सुख लेनेकी आशा, कामना और भोगका त्याग करना है। शरीरका त्याग करेंगे तो मर जायँगे; अतः शरीरसे सुख लेनेकी इच्छाका, उसके जीते रहनेकी इच्छाका त्याग करना है। इसी तरह वस्तुओंसे, व्यक्तियोंसे सुख लेनेकी इच्छाका त्याग करना है। जैसे, सर्दीके दिनोंमें रजाई आदि

लें तो सुख लेनेके लिये नहीं, प्रत्युत सर्दीसे बचनेके लिये। अमुक तरहकी रजाई होनी चाहिये, अमुक तरहका कम्बल होना चाहिये—यह आसक्ति है। परन्तु रजाई बढ़िया हो या घटिया हो, कम्बल हो या टाट हो, हमें तो केवल शीतका निवारण करना है—यह आसक्ति नहीं है, प्रत्युत आवश्यकता है। आसक्ति और आवश्यकता—दोनों अलग-अलग हैं। संसारकी आसक्ति अथवा कामना होती है और परमात्माकी प्रियता अथवा आवश्यकता होती है। आवश्यकता पूरी होनेवाली होती है और कामना मिटनेवाली होती है। जो मिटनेवाली है, उसका त्याग करनेमें क्या बाधा है?

बालक जन्मता है तो वह बड़ा होगा कि नहीं, पढ़ेगा कि नहीं, उसका विवाह होगा कि नहीं, उसके बाल-बच्चे होंगे कि नहीं, उसके पास धन होगा कि नहीं आदि सब बातोंमें सन्देह है, पर वह मरेगा कि नहीं—इसमें कोई सन्देह नहीं है। वह जरूर मरेगा। अगर हम निःसन्देह बातको धारण नहीं करेंगे तो फिर क्या धारण करेंगे? निःसन्देह बातको धारण करनेसे हमें दुःखी नहीं होना पड़ेगा। अतः जिसका वियोग अवश्यम्भावी है, उसके वियोगको वर्तमानमें ही स्वीकार कर लें। जिसका वियोग हो जायगा, उससे सुखकी इच्छा क्यों रखें? उससे सुखकी इच्छा रखेंगे तो उसका हमारेसे वियोग होनेपर भी रोना पड़ेगा और हमारा उससे वियोग होनेपर भी रोना पड़ेगा। अगर पहलेसे ही सुखकी इच्छाका त्याग कर दें तो फिर रोना नहीं पड़ेगा।

जब कन्या विवाहके बाद ससुराल जाती है तो वह रोती है। माता-पितासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर उसको दुःख होता है। पर वह ससुरालमें जाकर रहने लग जाती है तो रहते-रहते इतनी घुल-मिल जाती है कि अपने पीहरको भूल जाती है। जब वह दादी-परदादी बन जाती है और पोते-परपोतेकी स्त्री उद्दण्डता करती है, तब वह कहती है कि इस परायी जाई (पराये घरमें जन्मी)

छोकरीने मेरा घर बिगाड़ दिया! उसको यह याद ही नहीं रहता कि मैं भी परायी जाई हूँ! इसको आसक्ति कहते हैं। उसने घरको अपना मान लिया कि मैं तो यहाँकी हूँ, मैं माँ हूँ और यह मेरा बेटा है, मैं दादी हूँ और यह मेरा पोता है, मैं परदादी हूँ और यह मेरा परपोता है आदि-आदि। ये मेरे हैं—इसमें एक रस (सुख) मिलता है। यह रस ही भयंकर दुःख देनेवाला है। यह रस तो सदा रहेगा नहीं, पर दुःख दे जायगा। पक्षी उड़ जायगा, पर अण्डा दे जायगा! आसक्तिपूर्वक अपने सुखके लिये जोड़ा गया सम्बन्ध सदा नहीं रहेगा, मिट जायगा। अगर सुख देनेके लिये सम्बन्ध जोड़ें तो सदाके लिये सुखी हो जायँगे। सेवा-समितिवाले किसी मेले-महोत्सवमें सेवा करनेके लिये जाते हैं तो लोगोंके बिछुड़नेपर उनको रोना नहीं पड़ता; क्योंकि वे दूसरोंको सुख देनेके लिये वहाँ गये हैं, सुख लेनेके लिये नहीं। परन्तु जिस कुटुम्बमें हम रहते हैं, उसमें दूसरोंसे सुख लेनेकी आशा रहती है तो उनके बिछुड़नेपर रोना पड़ता है।

किसीका बेटा मर जाय तो बड़ा दुःख होता है, पर वास्तवमें बेटेके मरनेसे दुःख नहीं होता, प्रत्युत उसको अपना माननेसे दुःख होता है। प्रतिदिन संसारमें जो भी मरता है, बेटा ही मरता है; क्योंकि मरनेवाला किसी-न-किसीका बेटा है ही। पर 'मेरा बेटा' मान लिया तो अब उसके मरनेका दुःख होगा। अतः संसारमें अपनेपनका सम्बन्ध ही दुःख देनेवाला है। अगर केवल सेवाके लिये सम्बन्ध जोड़ा जाय तो दुःख नहीं होगा। इसलिये कुटुम्बमें सबकी सेवा करने, सबको सुख पहुँचाने, सबको आराम देनेका ही सम्बन्ध रखना चाहिये। ऐसा करनेसे आसक्ति मिट जायगी।

अगर पचीस वर्षका लड़का मर जाय तो बड़ा दुःख होता है। पर वही लड़का अगर उन्नीस-बीस वर्षकी अवस्थामें बीमार हो जाय तथा वैद्यलोग कह दें कि इसके जीनेकी सम्भावना नहीं है और बीमारी भोगते हुए वह पचीस वर्षकी अवस्थामें मर जाय

तो उतना दुःख नहीं होगा। तात्पर्य यह हुआ कि सुखकी आशा, कामना और भोगमें ही दुःख है। अगर सुखकी आशा, कामना और भोग न करें तो दुःख हो ही नहीं सकता। सब-के-सब दुःख सुखकी आशा, कामना और भोगपर ही अवलम्बित हैं।

जो लेनेके उद्देश्यसे देता है, वह वास्तवमें लेता ही है, देता नहीं। जो 'एक गुना दान, सहस्रगुना पुण्य' के भावसे एक रुपयेका दान करता है, उसका सम्बन्ध हजार रुपयोंके साथ जुड़ जाता है! अतः जो सुख लेनेके उद्देश्यसे स्त्रीको सुख देता है, बच्चोंका पालन-पोषण करता है, बच्चोंका विवाह करता है, उसको परिणाममें दुःख पाना पड़ता है। जो सुख लेनेके लिये किसीके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ता, वह संसारमें बड़े मौजसे रहता है। वह जीता है तो आनन्दसे जीता है और मरता है तो आनन्दसे मरता है। परन्तु लेनेकी इच्छासे सम्बन्ध जोड़नेवाला जीते हुए भी दुःख पाता है और मरते हुए भी दुःख पाता है। दूसरा चाहे छोटा हो, चाहे बड़ा हो, चाहे समान अवस्थावाला हो, सबको सुख पहुँचाना है। ऐसा करनेसे हमारा व्यवहार शुद्ध हो जायगा, शान्ति मिलेगी, बिना चाहे आदर-सत्कार बढ़ जायगा। अतः आसक्तिके त्यागका उपाय है—सेवा करना, सबको सुख पहुँचाना। किसीके साथ सम्बन्ध जोड़ना है तो उसको सुख पहुँचानेके लिये, उसका हित करनेके लिये, उसका कल्याण करनेके लिये, उसका आदर-सत्कार करनेके लिये, उसको आराम देनेके लिये ही सम्बन्ध जोड़ना है। लेनेके लिये सम्बन्ध जोड़ना है ही नहीं। इससे आसक्ति मिट जायगी।

एक राजा था। वह एक दिन शामके वक्त अपने महलकी छतपर घूम रहा था। साथमें पाँच-सात आदमी भी थे। महलके पीछे कुछ मकानोंके खण्डहर थे। उन खण्डहरोंमें कभी-कभी एक सन्त आकर ठहरा करते थे। राजाने उन खण्डहरोंकी तरफ संकेत करते हुए अपने आदमियोंसे पूछा कि 'यहाँ एक सन्त आकर

ठहरा करते थे न?' उन्होंने कहा कि 'हाँ महाराज! आया करते थे, पर कुछ वर्षोंसे उनको यहाँ आते देखा नहीं।' राजाने कहा कि 'वे बड़े विरक्त, त्यागी सन्त थे। उनके दर्शनसे बड़ी शान्ति मिलती थी। वे मिलें तो उनसे कोई बात पूछें। उनका पता लगाओ।' राजाके आदमियोंने उनका पता लगाया तो पता लगा कि वे शरीर छोड़ गये। मनुष्यकी यह बड़ी भूल होती है कि जब कोई मौजूद होता है, तब उससे लाभ लेते नहीं और जब वह मर जाता है, तब रोते हैं। राजाने कहा कि 'अहो! हमसे बड़ी गलती हो गयी कि हम उनसे लाभ नहीं ले सके! अब उनका कोई शिष्य हो तो उसको ले आओ, हम उससे मिलेंगे।' राजपुरुषोंने खोज की तो एक साधु मिले। उनसे पूछा कि 'महाराज! क्या आप उन सन्तको जानते हैं?' वे बोले कि 'हाँ, जानता हूँ। वे बड़े ऊँचे महात्मा थे।' राजपुरुषोंने फिर पूछा कि 'क्या आप उन सन्तके शिष्य हैं?' साधुने कहा कि 'नहीं, वे किसीको शिष्य नहीं बनाते थे। हाँ, मैं उनके साथमें जरूर रहा हूँ।' राजाके पास यह समाचार पहुँचा तो राजाने उनको ही लानेकी आज्ञा दी। राजाके आदमी उस साधुके पास गये और बोले कि 'महाराज! राजाने आपको बुलाया है, हमारे साथ चलिये।' वे बोले कि 'भाई! मैंने क्या अपराध किया है?' कारण कि राजा प्रायः उसीको लानेकी आज्ञा देते हैं, जिसने कोई गलती की हो। राजपुरुषोंने कहा कि 'नहीं महाराज! आपको तो वे सत्संगके लिये, पारमार्थिक बातें पूछनेके लिये बुलाते हैं। आप हमारे साथ पधारें।' वे साधु 'अच्छा' कहकर उनके साथ चल दिये। रास्तेमें वे एक गलीमें जाकर बैठ गये। राजपुरुषोंने समझा कि वे लघुशंका करते होंगे। गलीमें एक कुतियाने बच्चे दे रखे थे। साधुने उनमेंसे एक पिल्लेको उठा लिया और अपनी चद्दरके भीतर छिपाकर राजपुरुषोंके साथ चल पड़े।

राजाओंके यहाँ आसन (कुरसी)-का बड़ा महत्त्व होता है। किसको कौन-सा आसन दिया जाय, किसको कितना आदर दिया

जाय, किसको ऊँचा और किसको नीचा आसन दिया जाय—इसका विशेष ध्यान रखा जाता है। राजाने साधुके बैठनेके लिये गलीचा बिछा दिया और खुद भी उसपर बैठ गये, जिससे ऊँचे-नीचे आसनका कोई विचार न रहे। बाबाजीने बैठते ही अपने दोनों पैर राजाके सामने फैला दिये। राजाने सोचा कि यह मूर्ख है, सभ्यताको जानता नहीं! कभी राजसभामें गया नहीं, इसलिये राजाओंके सामने कैसे बैठना चाहिये—यह इसको आता नहीं। राजाने पूछ लिया—पैर फैलाये कबसे? बाबाजी बोले—हाथ सिकोड़े तबसे। तात्पर्य है कि कुछ लेनेकी इच्छा होती तो हम हाथ फैलाते और पैर सिकोड़ते, पर हमें लेना कुछ है ही नहीं, इसलिये हाथ सिकोड़ लिये और पैर फैला लिये। ऐसा कहकर बाबाजीने हाथ-पैर ठीक कर लिये। राजाने उत्तर सुनकर विचार किया कि ये मूर्ख नहीं हैं, प्रत्युत बड़े समझदार, त्यागी और चेतानेवाले हैं। राजाने उन सन्तकी चर्चा की तो साधुने कहा कि वे बड़े अच्छे सन्त थे, वैसे सन्त बहुत कम हुआ करते हैं।

राजाने पूछा—आप उनके साथ रहे हैं न?

साधुने कहा—हाँ, मैं उनके साथ रहा तो हूँ।

राजाने पूछा—आपने उनसे कुछ लिया होगा?

साधुने कहा—हमने लिया नहीं राजन्!

राजा बोला—तो क्या आप रीते ही रह गये?

साधुने कहा—नहीं, ऐसे सन्तके साथ रहनेवाला कभी रीता रह सकता ही नहीं। हमने लिया तो नहीं, पर रह गया।

राजाने पूछा—क्या रह गया?

साधुने कहा—जैसे डिबियामेंसे कस्तूरी निकालनेपर भी उसमें सुगन्ध रह जाती है, घीके बर्तनमेंसे घी निकालनेपर भी उसमें चिकनाहट रह जाती है, ऐसे ही सन्तके साथ रहनेसे उनकी सुगन्ध, चिकनाहट रह गयी।

राजा बोला—महाराज! वह सुगन्ध, चिकनाहट क्या है—यह मेरेको बताइये।

साधुने कहा—राजन्! यह हम साधुओंकी, फकीरोंकी बात है, राजाओंकी बात नहीं। आप जानकर क्या करोगे?

राजाने कहा—नहीं महाराज! आप जरूर बताइये।

साधुने चद्दरके पीछे छिपाया पिल्ला बाहर निकाला और राजाके सामने कर दिया।

राजाने कहा—हम समझे नहीं महाराज!

साधुने कहा—आप बुरा तो नहीं मानोगे?

राजाने कहा—अरे, मैं तो पूछता ही हूँ, बुरा कैसे मानूँगा? आप सच्ची बात कह दें।

साधुने कहा—राजन्! मेरेको आपमें और इस पिल्लेमें फर्क नहीं दीखता; यह समता ही उन सन्तके संगकी सुगन्ध, चिकनाहट है! यह पिल्ला बहुत साधारण चीज है और आप बहुत विशेष हैं—यह बात तो सच्ची है, पर मेरेको ऐसा नहीं दीखता। आपमें भी प्राण हैं और इसमें भी प्राण हैं। आपके भी श्वास चलते हैं और इसके भी श्वास चलते हैं। आपका शरीर भी पाँच भूतोंसे बना है और इसका शरीर भी पाँच भूतोंसे बना है। आप भी देखते हैं, यह भी देखता है। आप भी खाते-पीते हैं, यह भी खाता-पीता है। आपमें और इसमें फर्क क्या है? संसारके सभी प्राणियोंमें कोई-न-कोई विशेषता है ही। किसीमें कोई विशेषता है तो किसीमें कोई विशेषता है, टोटलमें सब बराबर हुए! आप ऊँचे पदपर हैं और यह नीचा है—यह फर्क तो तब होता है, जब मेरा स्वार्थका सम्बन्ध हो। मेरा किसीसे स्वार्थका सम्बन्ध है ही नहीं, न आपसे कुछ लेना है, न कुत्तेसे कुछ लेना है, फिर मेरे लिये आपमें और इसमें फर्क क्या है? आप बुरा न मानें। आपने बतानेका आग्रह किया, इसलिये साफ बात कह दी। मैं आपका तिरस्कार नहीं करता हूँ, प्रत्युत

सत्कार करता हूँ; क्योंकि आप प्रजाके मालिक हैं।

तात्पर्य है कि जब हमें संसारसे कुछ लेना होता है, तब हमें कोई धनी और कोई दरिद्र दीखता है। धनी मिले या दरिद्र मिले, हमें उनसे कुछ लेना है ही नहीं, तो फिर दोनोंमें क्या फर्क हुआ? एक साधु थे। घरोंसे भिक्षा लेना और पाकर चले आना—यह उनका प्रतिदिनका नियम था। शहरसे भिक्षा लाते समय बीचमें बहुत भीड़ रहती है; अतः स्पर्शदोषसे बचनेके लिये वे वहीं बैठकर पा लेते थे। एक दिन भिक्षा पानेके बाद वे अपना पात्र माँजने लगे तो एक सेठने कहा कि आपका पात्र मैं माँज देता हूँ। साधुने कहा कि आपसे नहीं मँजवाना है तो वह सेठ बोला कि मेरा नौकर माँज देगा। साधुने कहा कि 'मेरे लिये आपमें और नौकरमें फर्क क्या है? आप माँजें या नौकर माँजे, फर्क क्या पड़ा? फर्क तो तब पड़े, जब मैं आपको बड़ा आदमी समझूँ और नौकरको मामूली आदमी समझूँ। मेरे लिये जैसे आप आदरणीय हैं, ऐसे ही नौकर आदरणीय है और जैसे नौकर आदरणीय है, ऐसे ही आप आदरणीय हैं। नौकर है तो आपका है, मेरा नौकर है क्या? उसको मैं तनख्वाह देता हूँ क्या? मेरा सम्बन्ध तो आपके साथ और नौकरके साथ समान ही है। अन्तर तो तब हो, जब मेरेको कुछ लेना हो, कोई राग-द्वेषपूर्वक सम्बन्ध जोड़ना हो!'

तात्पर्य है कि संसारसे लेनेकी इच्छाका त्याग करनेसे आसक्ति मिट जाती है। अतः केवल देनेके लिये, सुख पहुँचानेके लिये ही संसारके साथ सम्बन्ध रखे—यह आसक्ति मिटानेका बड़ा सीधा-सरल उपाय है। स्त्री, पुत्र, माता, पिता, भाई, भौजाई आदि सबको सुख पहुँचाना है, सबका हित करना है और उनसे लेना कुछ नहीं है। उनमें हमारा अपनापन पहले भी नहीं था और पीछे भी नहीं रहेगा, बीचमें ही हमने अपना माना है। पर वह भी निरन्तर मिट रहा है। इसको छोड़नेकी जिम्मेवारी हमपर है; क्योंकि आसक्ति

हमने ही पकड़ी है, यह भगवान्‌की अथवा किसी दूसरेकी दी हुई नहीं है। यह कर्मोंका फल भी नहीं है, प्रत्युत अपनी ही मूर्खताका फल है। अपनी मूर्खताका त्याग करना अपना कर्तव्य है।

सांसारिक भोग और संग्रहकी आसक्तिके कारण परमात्मप्राप्तिके अनन्त आनन्दका अनुभव नहीं हो रहा है। इसलिये आसक्तिका त्याग करना है और परमात्माका प्रेम प्राप्त करना है। कारण कि हम स्वरूपसे परमात्माके अंश हैं; अतः हमारा खिंचाव परमात्माकी तरफ ही होना चाहिये, शरीर या संसारकी तरफ नहीं। हम एक शरीरके साथ अपना सम्बन्ध मानेंगे तो संसारमात्रके साथ हमारा सम्बन्ध जुड़ जायगा। जैसे पुरुष एक स्त्रीके साथ पति-पत्नीका सम्बन्ध जोड़ता है तो सास-ससुर, साला-साली आदि कइयोंके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है और पत्नी मर जाय तो न कोई सास है, न कोई ससुर है, न कोई साला है, न कोई साली है! ऐसे ही एक शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे संसारमात्रके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है और एक शरीरके साथ सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे संसारमात्रसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। तात्पर्य है कि लेनेकी इच्छासे संसारमात्रके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है और लेनेकी इच्छा छोड़नेसे संसारमात्रके साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही परमात्माके साथ नित्य-सम्बन्ध (नित्ययोग)-का अनुभव हो जाता है। यह अनासक्तियोग है।

प्रश्न—हम जिसकी सेवा करेंगे, उसमें क्या आसक्ति नहीं हो जायगी?

उत्तर—नहीं होगी। एक आदमी प्याऊपर बैठकर पानी पिलाता है तो उसका अनेक व्यक्तियोंके साथ सम्बन्ध होता है। कई लोग आते हैं और पानी पीकर चले जाते हैं। परन्तु प्याऊपर बैठे आदमीकी उनमें आसक्ति नहीं होती; क्योंकि पानी पिलानेके सिवाय उसका और कोई सम्बन्ध है ही नहीं। आसक्ति तो लेनेका सम्बन्ध होनेपर ही होती है।

एक आदमी जाड़ेके समय पचास कम्बल वितरित कर देता है तो उसकी महिमा होती है, पर एक व्यापारी एक हजार कम्बल बिक्री कर देता है तो उसकी महिमा नहीं होती। व्यापारीके द्वारा बिक्री किये गये कम्बलोंसे लोगोंका जाड़ा भी दूर होता है, फिर भी उसको पुण्य नहीं होता; क्योंकि उसने पैसे कमानेके लिये ही कम्बल दिये हैं। लेनेके लिये देना वास्तवमें देना नहीं है, प्रत्युत लेना ही है। अतः आसक्ति वहीं होती है, जहाँ लेनेके लिये देना होता है अथवा लेनेके लिये लेना होता है अर्थात् लेना मुख्य होता है। अतः देनेके लिये ही लेना होना चाहिये और देनेके लिये ही देना होना चाहिये। जैसे, कोई ब्राह्मण श्राद्ध आदिमें केवल यजमानके हितके लिये ही लेता है तो वह देनेके लिये ही लेता है।

पहले उद्देश्य बनता है, फिर क्रिया होती है। हमारा उद्देश्य आसक्ति-त्यागका होना चाहिये। हमें आसक्ति-त्यागके लिये ही लेना है और आसक्ति-त्यागके लिये ही देना है। किसीसे भी कोई आशा नहीं रखनी है। स्त्री रोटी बनाकर दे तो खा लें, पर वह रोजाना रोटी बनाकर दे—यह आशा भी न रखें। आशा ही महान् दुःख देनेवाली है—‘**आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्**’ (श्रीमद्भा० ११। ८। ४४)।

दूसरोंकी सेवा अपनी शक्तिके अनुसार करनी है। हमारे पास जितना समय है, जितनी समझ है, जितनी सामर्थ्य है, जितनी सामग्री है, उतनेसे ही दूसरोंकी सेवा करनी है। इससे अधिककी हमारेपर जिम्मेवारी ही नहीं है, और दूसरे हमारेसे आशा भी नहीं रखते। मालपर जगात और इन्कमपर टैक्स लगता है। माल नहीं हो तो जगात किस बातकी? इन्कम नहीं हो तो टैक्स किस बातका?

प्रश्न—क्या सत्संग आदिमें आसक्ति होना भी दोष है?

उत्तर—नहीं; क्योंकि यह आसक्ति नहीं है, प्रत्युत प्रेम है। कामना नहीं है, प्रत्युत आवश्यकता है। परन्तु गाना-बजाना बढ़िया

हो, राग-रागिनी बढ़िया हो, खूब लच्छेदार व्याख्यान हो जो श्रोताओंको रुला दे अथवा हँसा दे—यह श्रोताकी आसक्ति है। लोग हमें वक्ता समझें, हमारा मान-आदर करें—यह वक्ताकी आसक्ति है। मुक्तिके लिये, तत्त्वबोधके लिये, भगवत्प्रेमके लिये सत्संग आदिमें रुचि तो वास्तवमें हमारी आवश्यकता (भूख) है, जो दोषी नहीं है।

सत्संग करना आसक्ति मिटानेके लिये है। जैसे काँटेसे काँटा निकलता है, ऐसे ही सत्संगकी आसक्ति (रुचि)-से संसारकी आसक्ति मिटती है।

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥

(मार्कण्डेय० ३७। २३)

'संग (आसक्ति)-का सर्वथा त्याग करना चाहिये। परन्तु यदि उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका संग ही उस संग (आसक्ति)-को मिटानेकी औषध है।'

प्रश्न—आवश्यकता और कामनामें क्या फर्क है?

उत्तर—आवश्यकता अविनाशीकी होती है और कामना नाशवान्‌की होती है। जैसे सड़कमें कोई गड्ढा पड़ जाय तो उसपर मोटर लचकती है; अतः उस गड्ढेको मिट्टी, पत्थर आदि किसी चीजसे भरकर सम कर दें तो मोटर नहीं लचकेगी, ऐसे ही शरीरको भूख लगनेपर उसकी पूर्ति कर देना आवश्यकता है। भूख मिटानेके लिये चाहे साग-पत्ती खा लें, चाहे हलवा-पूरी खा लें, जिससे पेट भर जाय। परन्तु अमुक चीज चाहिये, मिठाई चाहिये, खटाई चाहिये, चटनी चाहिये—यह कामना है। आवश्यकताकी पूर्ति होती है और कामनाकी निवृत्ति होती है*। कामनाकी पूर्ति किसीकी भी कभी हुई नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं।

* अंग्रेजीमें आवश्यकताको WANT और कामनाको DESIRE कहते हैं।

प्रश्न—कभी-कभी दूसरेको सिखानेके लिये सेवा लेनी पड़ती है, क्या यह ठीक है?

उत्तर—बालक आदिको सिखानेके लिये सेवा लेना वास्तवमें सेवा करना ही है। लेनेकी क्रिया तो दीखती है, पर वास्तवमें लिया नहीं है, प्रत्युत शिक्षा दी है।

प्रश्न—सभीके शरीर अनित्य हैं, फिर उनकी सेवा क्यों की जाय?

उत्तर—अनित्यकी सेवा करनेसे नित्यकी प्राप्ति होती है। कारण कि अनित्यकी सेवा करनेसे अनित्यकी आसक्तिका त्याग हो जाता है और आसक्तिका त्याग होनेपर नित्यकी प्राप्ति हो जाती है। वास्तवमें सेवा केवल अनित्य शरीरकी नहीं होती, प्रत्युत शरीरी (शरीरवाले)-की होती है। व्यवहारमें तो जड़ चीज जड़ता (शरीर)-तक ही पहुँचती है, चेतनतक नहीं; परन्तु सेवा लेनेवाला अपनेको शरीर मानता है, इसलिये वह सेवा चेतनकी होती है—***'जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि'*** (मानस, अयोध्या० १४२। १)। तात्पर्य है कि हम शरीरको अपना मानते हैं, इसलिये शरीरतक पहुँचनेवाली चीज अपनेतक पहुँचती है।

भक्त तो सबको भगवान्‌का ही स्वरूप मानकर उनकी सेवा करता है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** (गीता १८। ४६), ***'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'*** (मानस, किष्किन्धा० ३)। भगवान्‌में आत्मीयता होनेसे उसकी संसारमें समता हो जाती है—

तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भए भव पार॥

(दोहावली ९४)

संसारमें समता होनेसे आसक्ति मिट जाती है। यही अनासक्तियोग है।

~~०~~

७. गीताका तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता लौकिक होते हुए भी एक अलौकिक ग्रन्थ है। इसमें बहुत ही विलक्षण भाव भरे हुए हैं। आजतक गीतापर जितनी टीकाएँ हुई हैं, उतनी किसी भी ग्रन्थपर नहीं हुई हैं। बाइबिलके अनुवाद (भाषान्तर) तो बहुत हुए हैं, पर टीका एक भी नहीं हुई है। बाइबिलका प्रचार तो राज्य और धनके प्रभावसे हुआ है, पर गीताका प्रचार गीताके अपने प्रभावसे हुआ है। तात्पर्य है कि गीताका आशय खोजनेके लिये जितना प्रयत्न किया गया है, उतना दूसरे किसी भी ग्रन्थके लिये नहीं किया गया है, फिर भी इस ग्रन्थकी गहराईका अन्त नहीं आया है!

थोड़े शब्दोंमें कहें तो गीताका तात्पर्य है—मनुष्यमात्रका कल्याण करना। शास्त्रोंमें कल्याणके कई मार्ग बताये गये हैं। गीताकी टीकाओंको भी देखें तो उनमें अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, अचिन्त्यभेदाभेदवाद आदि अनेक मतोंको लेकर टीकाएँ की गयी हैं। इस प्रकार अनेक वाद, सिद्धान्त, मत-मतान्तर होते हुए भी गीताका किसीके साथ विरोध नहीं है। गीताने किसी भी मतका खण्डन नहीं किया है; परन्तु अपनी एक ऐसी विलक्षण बात कही है, जिसके सामने सब नतमस्तक हो जाते हैं। कारण कि गीता किसी एक वाद, मत आदिको लेकर नहीं कही गयी है, प्रत्युत जीवमात्रके कल्याणको लेकर कही गयी है।

आचार्यगण अपने-अपने मतको 'सिद्धान्त' नामसे कहते हैं। मत सर्वोपरि नहीं होता। हरेक व्यक्ति अपना-अपना मत प्रकट कर सकता है। परन्तु सिद्धान्त सर्वोपरि होता है, जो सबको मानना पड़ता है। इसलिये गुरु-शिष्यमें भी मतभेद तो हो सकता

है, पर सिद्धान्तभेद नहीं हो सकता। परन्तु गीतामें भगवान्‌ने अपने सिद्धान्तको 'सिद्धान्त' नामसे न कहकर 'मत' नामसे ही कहा है; जैसे—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

(गीता ३। ३०-३१)

'तू विवेकवती बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको मेरे अर्पण करके कामना, ममता और सन्तापरहित होकर युद्धरूप कर्तव्य-कर्मको कर। जो मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं।'

भगवान्‌का मत ही वास्तविक और सर्वोपरि सिद्धान्त है, जिसके अन्तर्गत सभी मत-मतान्तर आ जाते हैं। परन्तु भगवान् अभिमान न करके बड़ी सरलतासे, नम्रतासे अपने सिद्धान्तको 'मत' नामसे कहते हैं। तात्पर्य है कि भगवान्‌ने अपने अथवा दूसरे किसीके भी मतका आग्रह नहीं रखा है, प्रत्युत निष्पक्ष होकर अपनी बात सामने रखी है।

ईश्वरको माननेवाले जितने भी दार्शनिक सिद्धान्त हैं, उनमें प्रायः तीन चीजोंका वर्णन आता है—परमात्मा, जीवात्मा और जगत्। इन तीनोंके विषयमें कई मतभेद हैं। जैसे—जीवके विषयमें कई कहते हैं कि यह अणु-परिमाण है, कई कहते हैं कि यह मध्यम-परिमाण है और कई कहते हैं कि यह महत्-परिमाण है। जीवको 'अणु-परिमाण' माननेवाले कहते हैं कि एक केशको चीरकर उसके दस

हजार भाग किये जायँ तो एक भागके बराबर जीवका परिमाण है*। जीवको 'मध्यम-परिमाण' माननेवाले कहते हैं कि चींटीमें चींटी-जितना ही जीव है, मनुष्यमें मनुष्य-जितना ही जीव है, हाथीमें हाथी-जितना ही जीव है। जीवको 'महत्-परिमाण' माननेवाले कहते हैं कि जीव एक शरीरमें सीमित नहीं है, प्रत्युत यह बहुत महान् है। इसी तरह ईश्वरके विषयमें कई कहते हैं कि यह सगुण है, कई कहते हैं कि यह निर्गुण है, कई कहते हैं कि यह साकार है, कई कहते हैं कि यह निराकार है। कई कहते हैं कि यह द्विभुज है, कई कहते हैं कि यह चतुर्भुज है, कई कहते हैं कि यह सहस्रभुज है, कई कहते हैं कि यह विराट्‌रूप है। कई कहते हैं कि यह व्यक्त है, कई कहते हैं कि यह अव्यक्त है, कई कहते हैं कि यह अवतार लेता है, कई कहते हैं कि यह अवतार नहीं लेता; आदि-आदि। इसी प्रकार जगत्‌के विषयमें कई कहते हैं कि यह अनादि और अनन्त है, कई कहते हैं कि यह अनादि और सान्त है, कई कहते हैं कि यह अनादि और परिवर्तनशील अर्थात् प्रवाहरूपसे रहनेवाला है आदि-आदि। गीताने इन सब वाद-विवादोंमें न पड़कर सीधी बात बतायी है कि जो तुम्हारे सामने दीखता है, यह 'जगत्' है। हरेक मनुष्यको 'मैं हूँ'—ऐसा अनुभव होता है, यह 'जीव' है।

---

* वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

(श्वेताश्वतर० ५। ९)

'बालकी नोकके सौवें भागके पुनः सौ भागोंमें कल्पना किये जानेपर जो एक भाग होता है, उसीके बराबर जीवका स्वरूप समझना चाहिये और वह असीम भाववाला होनेमें समर्थ है।'

जो जड़-चेतन, अपरा-परा सबका स्वामी है, वह 'ईश्वर' है[१]। गीताकी इस बातमें सभी दार्शनिक एकमत हैं। इसमें भी एक विलक्षण बात है कि यदि कोई ईश्वरको न माने तो भी गीताके अनुसार चलनेसे उसका कल्याण हो जायगा[२]!

गीताने व्यवहारमें परमार्थकी विलक्षण कला बतायी है, जिससे

१.न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ (गीता २। १२) आदि

'किसी कालमें मैं नहीं था और तू नहीं था तथा ये राजालोग नहीं थे—यह बात भी नहीं है और इसके बाद ये सभी (मैं, तू और राजालोग) नहीं रहेंगे—यह बात भी नहीं है।'

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
(गीता १५। १६—१८)

'इस संसारमें क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी)—ये दो प्रकारके पुरुष हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर नाशवान् और कूटस्थ (जीवात्मा) अविनाशी कहा जाता है। उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो परमात्मा नामसे कहा गया है। वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबका भरण-पोषण करता है। मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

२. देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ (गीता ३। ११)

'अपने कर्तव्य-कर्मके द्वारा तुमलोग देवताओंको उन्नत करो और वे देवतालोग अपने कर्तव्यके द्वारा तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। (गीता १८। ४५)

'अपने-अपने कर्तव्यमें तत्परतापूर्वक लगा हुआ मनुष्य सम्यक् सिद्धि (परमात्मा)-को प्राप्त कर लेता है।'

प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक परिस्थितिमें रहते हुए, निषिद्धरहित सब तरहका व्यवहार करते हुए भी अपना कल्याण कर सके*। दूसरे ग्रन्थ तो प्रायः यह कहते हैं कि अगर अपना कल्याण चाहते हो तो सब कुछ त्यागकर साधु हो जाओ; क्योंकि व्यवहार और परमार्थ—दोनों एक साथ नहीं होंगे। परन्तु गीता कहती है कि आप जहाँ हैं, जिस मतको मानते हैं, जिस सिद्धान्तको मानते हैं, जिस धर्म, सम्प्रदाय आदिको मानते हैं, उसीको मानते हुए गीताके अनुसार चलो तो कल्याण हो जायगा। तात्पर्य है कि कोई भी मनुष्य चाहे हिन्दू हो, चाहे मुसलमान हो, चाहे ईसाई हो, चाहे यहूदी हो, चाहे पारसी हो, वह किसी भी मतका अनुसरण करनेवाला हो, किसी भी सिद्धान्तको माननेवाला हो,यदि उसका उद्देश्य अपना कल्याण करनेका है तो उसको भी गीतामें अपने कल्याणकी पूरी सामग्री मिल जायगी। व्यवहार करते हुए तत्त्वज्ञान हो जाय, भगवद्भक्ति हो जाय, योगका अनुष्ठान हो जाय, लययोग, राजयोग, मन्त्रयोग आदि योगोंकी प्राप्ति हो जाय—ऐसी विलक्षण विद्या गीताने बतायी है! वह विलक्षण विद्या क्या है—इसको बतानेकी चेष्टा की जाती है। हम जो-जो व्यवहार करते हैं, उसमें अपने स्वार्थ और अभिमानका आग्रह छोड़कर सबके हितकी दृष्टिसे कार्य करें। हितकी दृष्टिसे कार्य करनेका तात्पर्य है कि वर्तमानमें भी हित हो और भविष्यमें

---

* सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ (गीता १८। ५६)

'मेरा आश्रय लेनेवाला भक्त सदा सब विहित कर्म करते हुए भी मेरी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है।'

भी हित हो, हमारा भी हित हो और दूसरे सबका भी हित हो— ऐसी दृष्टि रखकर कार्य करे। ऐसा करनेसे बड़ी सुगमतासे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी। एकान्तमें रहकर वर्षोंतक साधना करनेपर ऋषि-मुनियोंको जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती थी, उसी तत्त्वकी प्राप्ति गीताके अनुसार व्यवहार करते हुए हो जायगी। सिद्धि-असिद्धिमें सम रहकर कर्म करना ही गीताके अनुसार व्यवहार करना है। गीता कहती है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(२।३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं होगा।'

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२।४८)

'हे धनंजय! तू आसक्तिका त्याग करके सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर; क्योंकि समत्व ही योग कहा जाता है।'

संसारका स्वरूप है—क्रिया और पदार्थ। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये क्रिया और पदार्थसे सम्बन्ध-विच्छेद करना आवश्यक है। इसके लिये गीताने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगोंकी दृष्टिसे क्रिया और पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेकी युक्ति बतायी है; जैसे—कर्मयोगी क्रिया और पदार्थमें आसक्तिका त्याग करके उनको दूसरोंके

हितमें लगाता है[१]; ज्ञानयोगी क्रिया और पदार्थसे असंग होता है[२]; और भक्तियोगी क्रिया तथा पदार्थको भगवान्‌के अर्पण करता है[३]। सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको भगवान्‌के अर्पण करनेसे मनुष्य सुगमतापूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त होकर भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌के अर्पण करनेसे क्रियाएँ और वस्तुएँ नहीं रहेंगी—यह बात नहीं है, प्रत्युत वे महान् पवित्र हो जायँगी। जैसे भक्तलोग भगवान्‌को भोग लगाते हैं तो भोग लगायी हुई

---

१. यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥
(गीता ६। ४)

'जिस समय न इन्द्रियोंके भोगोंमें तथा न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस समय वह सम्पूर्ण संकल्पोंका त्यागी मनुष्य योगारूढ़ कहा जाता है।'

२. 'तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ (गीता ३। २८)

'हे महाबाहो! गुण-विभाग और कर्म-विभागको तत्त्वसे जाननेवाला महापुरुष 'सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं'—ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता।'

३. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (गीता ९। २६-२७)

'जो भक्त पत्र, पुष्प, फल, जल आदि (यथासाध्य प्राप्त वस्तु)-को भक्तिपूर्वक मेरे अर्पण करता है, उस मेरेमें तल्लीन हुए अन्तःकरणवाले भक्तके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुए उपहार (भेंट)-को मैं खा लेता हूँ।'

'हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे।'

वस्तु वैसी-की-वैसी ही मिलती है, कम नहीं होती, पर वह वस्तु महान् पवित्र हो जाती है। इसी तरह संसारमें भी हम जिस वस्तुको अपनी न मानकर दूसरोंकी सेवाके लिये मानते हैं, वह वस्तु महान् पवित्र हो जाती है और जिस वस्तुको हम केवल अपने लिये ही मानते हैं, वह वस्तु महान् अपवित्र हो जाती है।

मान लें कि कोई सज्जन अपने लिये रसोई बनाता है। अचानक एक भिक्षु आता है और आवाज देता है तो वह सज्जन बड़े प्रेमसे उसको भिक्षा देता है। वह अन्न बड़ा शुद्ध होता है। परन्तु जब वह सज्जन रसोई अपनी थालीमें परोस लेता है, तब वह अन्न उतना शुद्ध नहीं रहता; क्योंकि 'मैं भोजन करूँगा'—यह भाव आ गया। अब यदि भिक्षुक आता है तो उसको वह अन्न देनेमें संकोच होता है और भिक्षुकको लेनेमें संकोच होता है। फिर भी भिक्षुक उसमेंसे थोड़ा अन्न ले सकता है। परन्तु वह सज्जन भोजन करने बैठ गया और उसने ग्रास बना लिया तो अब वह अन्न पहले-जैसा शुद्ध नहीं रहा। अगर वह उस ग्रासको मुँहमें ले लेता है तो वह अशुद्ध, जूठन हो जाता है। जब वह उस ग्रासको निगल लेता है, तब (अपने लिये भोजन करनेसे) वह महान् अशुद्ध हो जाता है। यदि किसी कारणसे उलटी हो जाय तो वह उलटी किया हुआ अन्न बड़ा अशुद्ध होता है। उलटी न हो तो वह महान् अशुद्ध होकर मैला बन जाता है। परन्तु दूसरे दिन वह जंगलमें उस मैलेका त्याग कर देता है तो हवा, धूप, वर्षा आदिके कारण वह मैला समय लगनेपर स्वतः मिट्टीमें मिलकर मिट्टी ही बन जाता है और इतना शुद्ध हो जाता है कि पता ही नहीं लगता कि मैलापन कहाँ था! वह मिट्टी दूसरी वस्तुओं (बर्तन आदि)-को भी शुद्ध कर देती है। यह त्यागका

ही माहात्म्य है! इस प्रकार अपने लिये बनाने-खानेसे शुद्ध वस्तु भी महान् अशुद्ध हो जाती है और त्याग करनेसे महान् अशुद्ध वस्तु (मल-मूत्र) भी शुद्ध हो जाती है। अतः जिस-जिस वस्तुको हम स्वार्थवश अपनी और अपने लिये मानते हैं, उस-उस वस्तुको हम अशुद्ध कर देते हैं। कारण कि संसारकी वस्तुएँ सबके लिये हैं, उनमें सबका हिस्सा है। गीता कहती है—

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ (३। १३)

'जो केवल अपने लिये ही पकाते हैं, वे पापीलोग तो केवल पापका ही भक्षण करते हैं।'

हमारे पास जो चीज है, वह सबके लिये है, केवल हमारे लिये नहीं है—इस उदारभावसे बड़ी शान्ति मिलती है। रसोई बननेपर कोई भूखा आ जाय, अतिथि आ जाय, भिक्षुक आ जाय, कुत्ता आदि आ जाय तो शक्तिके अनुसार उनको भी दे दें। वे सब-का-सब माँगें तो उनसे कह सकते हैं कि 'भाई, सब कैसे दे दें, हमें भी तो लेना है, आप अपना हिस्सा ले लो!' हम दूसरेको भोजन तो करा सकते हैं, पर उसकी इच्छापूर्ति कभी नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, संसारके सब लोग मिलकर भी एक आदमीकी इच्छापूर्ति नहीं कर सकते—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥

(श्रीमद्भा० ९। १९। १३)

'पृथ्वीपर जितने भी धान्य, स्वर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब-के-सब मिलकर भी उस पुरुषके मनको सन्तुष्ट नहीं कर सकते, जो कामनाओंके प्रहारसे जर्जर हो रहा है।'

हमारी भारतीय संस्कृति बड़ी विलक्षण है, जो प्राणिमात्रका उद्धार चाहती है। राजस्थानमें मैंने देखा है कि जब किसानलोग खेती करते हैं, तब पहले वे भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं कि 'पशुओंके भाग्यका, पक्षियोंके भाग्यका, चिड़ी-कमेड़ीके भाग्यका, अटाऊ-बटाऊके भाग्यका हमें देना महाराज!' तात्पर्य है कि खेती केवल हमारे लिये नहीं है, प्रत्युत सबके लिये है। जब खेती पकती है, तब जो फल सबसे पहले आता है, उसको पहले अपने काममें नहीं लेते। पहले उसको मन्दिरमें या ब्राह्मणों अथवा साधुओंके पास भेजते हैं, फिर उसको काममें लेते हैं। ऐसे ही रसोई बनती है तो पहले अतिथि आदिको देकर फिर भोजन करते हैं। रसोई बननेके बाद 'बलिवैश्वदेव' करनेका विधान आता है। उसमें विश्वमात्रके लिये अन्न अर्पण किया जाता है। कोई मर जाता है तो उसके लिये श्राद्ध और तर्पण करते हैं। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण जीवोंको, देवताओंको और ईश्वरको भी पिण्ड और पानी देते हैं। भगवान्‌में किसी कमीकी सम्भावना ही नहीं है। परन्तु जैसे बालक पिताकी ही चीज पिताको अर्पण करता है तो पिता प्रसन्न हो जाता है, ऐसे ही भगवान्‌की चीज भगवान्‌को ही अर्पण करनेसे भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं। समुद्रको भी जल देते हैं और सूर्यको भी दीपक दिखाते हैं, आरती करते हैं। क्या समुद्रमें जलकी कमी है? सूर्यमें प्रकाशकी कमी है? उनमें कमी नहीं है, पर हमारा उदारभाव, सबकी सेवा करनेका भाव, सबको सुख पहुँचानेका भाव कल्याण करनेवाला है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

—इसी बातको गीताने '**सर्वभूतहिते रताः**' (५। २५, १२। ४)

पदोंसे कहा है। सबको देनेके बाद जो शेष बचता है, वह '**यज्ञशेष**' कहलाता है। गीता कहती है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः। (३।१३)

'यज्ञशेष ग्रहण करनेवाले श्रेष्ठ मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं।'

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्। (४।३१)

'यज्ञशेष अमृतको ग्रहण करनेवाले सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

कर्मयोगी सब वस्तुओंको संसारके अर्पण करता है, ज्ञानयोगी प्रकृतिके अर्पण करता है और भक्तियोगी भगवान्‌के अर्पण करता है। किसीके भी अर्पण करो, पर अपने लिये मत मानो—यह खास बात है। वास्तवमें वस्तु कल्याण करनेवाली नहीं है, प्रत्युत हमारा उदारभाव कल्याण करनेवाला है। यदि वस्तु कल्याण करनेवाली हो तो लखपति, करोड़पति या अरबपति तो अपना कल्याण कर लेंगे, पर साधारण आदमी अपना कल्याण नहीं कर सकेगा। परन्तु वास्तवमें कल्याण त्यागीका होता है, संग्रहीका नहीं। अतः इतना धन खर्च करनेसे कल्याण होगा, इतनी वस्तुओंको देनेसे कल्याण होगा—यह बात है ही नहीं। कल्याण हमारे इस भावसे होगा कि सबका हित हो जाय, सब सुखी हो जायँ। भगवान् क्रियाग्राही या वस्तुग्राही नहीं हैं, प्रत्युत भावग्राही हैं—'**भावग्राही जनार्दनः।**' इसलिये हरेक काममें परहितका भाव रखें। इसमें खर्चा तो बहुत थोड़ा है, पर लाभ बड़ा भारी है। थोड़ा खर्चा यह है कि कोई अभावग्रस्त सामने आ जाय तो उसको थोड़ा-सा अन्न दे दो, थोड़ा-सा जल दे दो, थोड़ा-सा वस्त्र दे दो, थोड़ा-सा आश्रय दे दो, उसकी थोड़ी-सी सहायता कर दो। कभी खुद भूखे रहकर दूसरेको

भोजन देनेका मौका भी आ जाय तो कोई बात नहीं। हम एकादशीव्रत करते हैं तो उस दिन भूखे रहते ही हैं। जब देशका विभाजन हुआ था, उस समय पाकिस्तानसे आये कई व्यक्तियोंको दस-दस रुपये देनेपर भी एक गिलास पानी नहीं मिला था। अतः सब समय अन्न-जलका मिलना कोई हाथकी बात नहीं है। कभी भूखा-प्यासा रहना ही पड़ता है। यदि दूसरेके हितके लिये भूखे-प्यासे रह जायँ तो कल्याण हो जाय!

इस प्रकार जो कुछ किया जाय, सबके हितके लिये किया जाय। कोई किसी भी धर्म, सम्प्रदाय, मत-मतान्तर, वर्ण, आश्रम आदिका हो, जो पक्षपात न रखकर सबके हितका भाव रखता है, उसका कल्याण हो जाता है।

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

(पञ्च० अपरीक्षित० ३७)

'यह अपना है और यह पराया है—इस प्रकारका भाव संकुचित हृदयवाले मनुष्य करते हैं। उदार हृदयवाले मनुष्योंके लिये तो सम्पूर्ण विश्व ही अपना कुटुम्ब है।'

तात्पर्य है कि उदार भाववाले मनुष्य सम्पूर्ण कार्य विश्वमात्रके हितके लिये ही करते हैं। रामायणमें आया है—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

(मानस, सुन्दर० ४१।४)

जो अपना बुरा करता है, उसका भी सन्तलोग भला ही करते हैं। भगवान् राम अंगदको रावणके पास भेजते समय कहते हैं कि शत्रुसे इस तरह बात करना, जिससे हमारा काम (सीताजीकी प्राप्ति) भी हो जाय और उसका हित भी हो—

काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥

(मानस, लंका० १७।४)

मनुष्यमें ऐसा उदारभाव त्यागसे आता है। इसलिये गीतामें त्यागकी बड़ी महिमा है। त्यागसे तत्काल शान्ति मिलती है— '**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२।१२)। मनुष्य मल-मूत्र-जैसी वस्तुका भी त्याग करता है तो उसको एक शान्ति मिलती है, चित्तमें प्रसन्नता होती है, शरीर हलका हो जाता है, नीरोगता आ जाती है। जब मैली-से-मैली वस्तुके त्यागका भी इतना माहात्म्य है, फिर अन्न-वस्त्र आदिका दूसरोंके हितके लिये त्याग किया तो उसका कितना माहात्म्य होगा! त्यागके विषयमें एक मार्मिक बात है कि जो वस्तु अपनी नहीं होती, उसीका त्याग होता है! तात्पर्य यह है कि वस्तु अपनी नहीं है, पर भूलसे अपनी मान ली है, इस भूलका ही त्याग होता है। जैसे, जब हम मनुष्यशरीरमें आये थे, तब अपने साथ कुछ नहीं लाये थे, शरीर भी माँसे मिला था और जब हम जायँगे, तब अपने साथ कुछ नहीं ले जायँगे। परन्तु यहाँकी वस्तुओंको अपनी मानकर हम उसके मालिक बन जाते हैं। अतः उन वस्तुओंका मनसे त्याग करना है कि ये हमारी नहीं हैं, प्रत्युत सबकी हैं, जो कि वास्तविकता है। केवल इतनी-सी बातसे हमारा कल्याण हो जायगा। गीता कहती है—

निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ (२।७१)

अर्थात् शरीरमें 'मैं'-पन और वस्तुओंमें 'मेरा'-पनका त्याग करनेसे शान्ति मिल जाती है, कल्याण हो जाता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि कुछ भी मेरा नहीं है। इनको संसारका मान लें तो कर्मयोग हो जायगा, प्रकृतिमात्रका समझ लें तो ज्ञानयोग हो जायगा और भगवान्‌का मान लें तो भक्तियोग हो

जायगा। यदि इनको अपना मानेंगे तो जन्म-मरणयोग हो जायगा अर्थात् जन्म-मरण होगा, मिलेगा कुछ नहीं। जो अपना नहीं है, वह मिलेगा कैसे? अपने पास रहेगा कैसे? इसलिये गीता कहती है कि इन शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिसे जो भी काम करो, सबके हितके लिये करो—

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ (४। २३)

'यज्ञके लिये अर्थात् निःस्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं।'

रामायणमें आया है—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(मानस, अरण्य० ३१। ५)

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

(मानस, उत्तर० ४१। १)

दूसरोंका हित करनेसे कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों सिद्ध हो जाते हैं। सगुण और निर्गुण—दोनोंकी प्राप्ति दूसरोंका हित करनेसे हो जाती है। गीताने सगुणकी प्राप्तिके लिये कहा है—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ (१२। ४)

'वे प्राणिमात्रके हितमें रत और सब जगह समबुद्धिवाले मनुष्य मुझे (सगुणको) ही प्राप्त होते हैं।'

और निर्गुणकी प्राप्तिके लिये कहा है—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

(५। २५)

'जिनका शरीर मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित वशमें है, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं, जिनके सम्पूर्ण संशय मिट गये हैं, जिनके

सम्पूर्ण कल्मष (दोष) नष्ट हो गये हैं, वे विवेकी साधक निर्वाण ब्रह्मको (निर्गुणको) प्राप्त होते हैं।'

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी आदि कोई भी क्यों न हो, यदि वह अपने सिद्धान्तोंका, नियमोंका पालन करते हुए त्याग करे अर्थात् मिली हुई वस्तुको अपनी न माने तो उसका कल्याण हो जायगा। त्यागमें सब एक हो जाते हैं, कोई मतभेद नहीं रहता। जैसे कोई देवताओंका पूजन करता है, कोई ऋषियोंका पूजन करता है, कोई माँ-बापका पूजन करता है आदि-आदि। परन्तु नियम-पालनमें भिन्नता होनेपर भी दूसरोंके हितके लिये स्वार्थ और अभिमानका त्याग करनेमें सब एक हो जाते हैं। जिनमें अपने स्वार्थ और अभिमानके त्यागकी मुख्यता है, वे मत, सिद्धान्त, सम्प्रदाय, ग्रन्थ, व्यक्ति आदि महान् श्रेष्ठ होते हैं। परन्तु जिनमें अपने स्वार्थ और अभिमानकी मुख्यता है, वे मत, सिद्धान्त, ग्रन्थ, व्यक्ति आदि महान् निकृष्ट होते हैं।

सबका हित करनेसे अपना हित मुफ्तमें, स्वाभाविक ही हो जाता है। इसलिये हमें कोई नया काम नहीं करना है, प्रत्युत अपना भाव बदलना है कि हमारी सम्पत्ति सबके लिये है। हम तो सम्पत्तिकी रक्षा करनेवाले हैं। जैसे आवश्यकता पड़नेपर हम अन्न, जल, वस्त्र आदि अपने काममें लेते हैं, ऐसे ही आवश्यकता पड़नेपर दूसरोंको भी अन्न, जल, वस्त्र, औषध दे दें। जैसे खुद आवश्यकताके अनुसार वस्तु लेते हैं, ऐसे दूसरोंको भी आवश्यकताके अनुसार वस्तु दें।

सबके हितका भाव हरेक भाई-बहन रख सकते हैं। यह भाव गृहस्थ भी रख सकते हैं, साधु-संन्यासी भी रख सकते हैं; दरिद्र-से-दरिद्र मनुष्य भी रख सकते हैं, धनी-से-धनी मनुष्य

भी रख सकते हैं। हमारे पास जो वस्तुएँ हैं, वे किसकी हैं—इसका पता नहीं है, पर कोई अभावग्रस्त आदमी सामने आ जाय तो वस्तुको उसीकी समझकर उसको दे दें—'**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।**' जैसे हमारे पास कोई सज्जन आता है और कहता है कि 'भाई, आज मेरेको मेलेमें जाना है। मेरे पास एक हजार रुपये हैं, कोई जेब न कतर ले, इसलिये इन रुपयोंको आपके पास रखता हूँ।' वह रुपये रखकर चला जाता है। शामको वह वापस आकर रुपये माँगता है और हम उसके रुपये उसको दे देते हैं तो क्या हमने दान कर दिया? दान नहीं किया, प्रत्युत उसीकी वस्तु उसको दे दी।

शास्त्रमें आया है कि रसोई बननेके बाद यदि ब्रह्मचारी और संन्यासी आ जायँ तो उनको अन्न न देनेसे पाप लगता है, जिसकी शुद्धि चान्द्रायणव्रत करनेसे होती है। यदि उनको थोड़ा-सा अन्न भी दे दें तो इतनेमें हमारे धर्मका पालन हो जायगा और पाप नहीं लगेगा। इसमें कोई शंका कर सकता है कि हमने पैसे कमाये, उससे सब सामग्री लाये और रसोई बनायी, पर कोई संन्यासी आदि आ जाय तो उसको न देनेसे पाप लग जायगा—यह कैसा न्याय है? इसका समाधान यह है कि जिसने संन्यास ले लिया, त्याग कर दिया और जो अपने पासमें कुछ नहीं रखता, उसके हकका धन कहाँ गया? यदि वह चाहता तो दूकान, खेत आदिमें काम करके, पढ़ाने-लिखानेका काम करके अपने जीवन-निर्वाहके योग्य धन कमा सकता था, रुपयोंका संग्रह कर सकता था, पर वह उसने नहीं किया तो वे रुपये हमारे पास ही तो रहे! इसलिये समयपर भोजनके लिये आ जाय तो उसको रोटी दे दें—यह हमारा कर्तव्य है। नहीं देंगे तो उसका हमपर ऋण रहेगा, हमें पाप लगेगा।

साधुओंकी भिक्षावृत्तिको शास्त्रोंमें बहुत पवित्र बताया गया है; क्योंकि कई घरोंसे थोड़ा-थोड़ा लेनेसे देनेवालेपर कोई भार भी नहीं पड़ता और लेनेवालेकी उदरपूर्ति भी हो जाती है। इसलिये इसको 'माधुकरी वृत्ति' भी कहते हैं। 'मधुकर' नाम भौंरे अथवा मधुमक्खीका है। मधुमक्खी हरेक पुष्पसे थोड़ा-थोड़ा रस लेती है और किसी पुष्पका नुकसान भी नहीं करती। एक साधु थे। उनसे किसीने पूछा कि 'आप भोजन कहाँ पाते हो? पासमें एक पैसा तो है नहीं!' साधुने कहा कि 'भिक्षा पा लेते हैं।' उसने फिर पूछा कि 'कभी भिक्षा न मिले तो?' साधु बोला—'तो भूखको ही पा लेते हैं!' भूखको पानेका तात्पर्य है कि आज हम भोजन नहीं करेंगे, कल करेंगे।

संसारमें एक-दूसरेको दिये बिना, एक-दूसरेकी सेवा किये बिना किसीका भी निर्वाह नहीं हो सकता। राजा-महाराजा कोई क्यों न हो, अपने निर्वाहके लिये कुछ-न-कुछ सहायता लेनी ही पड़ती है। इसलिये गीतामें आया है—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(३।११)

'अपने कर्तव्य-कर्मके द्वारा तुमलोग देवताओंको उन्नत करो और वे देवतालोग अपने कर्तव्यके द्वारा तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

कितनी विलक्षण बात है कि एक-दूसरेका पूजन (सेवा) करते-करते परम कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है!

कई वर्ष पहलेकी बात है। बाँकुड़ा जिलेमें अकाल पड़ गया

तो गीताप्रेसके संस्थापक, संचालक तथा संरक्षक सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने वहाँ कई जगह कीर्तन आरम्भ करवा दिया और लोगोंसे कहा कि वहाँ बैठकर दो घण्टे कीर्तन करो और आधा सेर चावल ले जाओ। पैसा देनेसे वे मांस, मछली आदि खरीदेंगे, पर चावल देनेसे वे चावल तो खायेंगे ही, इसलिये चावल देना शुरू किया। इस तरह उन्होंने कीर्तनके सौ-सवा सौ कैम्प खोल दिये। एक दिन सेठजी वहाँ देखनेके लिये गये। रात्रिमें वे जहाँ ठहरे थे, वहाँ बहुत-से बंगाली लोग इकट्ठे हुए। उन्होंने सेठजीकी बड़ी प्रशंसा की और कहा कि आपने हमारे जिलेको जिला दिया! सेठजी बोले कि देखो, तुमलोग झूठी प्रशंसा करते हो, हमने क्या खर्च किया है? हम मारवाड़से यहाँ आये थे। यहाँ आकर हमने बंगालसे जितना कमाया, वह सब-का-सब दे दें तो आपकी ही वस्तु आपको दी, हमने अपना क्या दिया? वह भी अभी सब नहीं दिया है। वह सब दे दें और फिर हम मारवाड़से लाकर दें, तब यह माना जायगा कि हमने दिया। इसी तरह हमें हरेकको उसीकी वस्तु समझकर उसको देनी है। देकर हम उऋण हो जायँगे, नहीं तो ऋण रह जायगा। अपनेमें सेवकपनेका अभिमान भी नहीं होना चाहिये। घरमें रसोई बनती है तो बच्चे भी खाते हैं, स्त्रियाँ भी खाती हैं, पुरुष भी खाते हैं; क्योंकि उसमें सबका हिस्सा है। इसी तरह कोई भूखा आ जाय, कुत्ता आ जाय, कौआ आ जाय तो उनका भी उसमें हिस्सा है। उनके हिस्सेकी चीज उनको दे दें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे आचरण करनेपर हमारा कल्याण हो जायगा। गीतामें आया है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ (१८। ४६)

'अपने कर्तव्य कर्मके द्वारा उस परमात्माका पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

तात्पर्य है कि ब्राह्मण ब्राह्मणोचित कर्मोंके द्वारा पूजन करे, क्षत्रिय क्षत्रियोचित कर्मोंके द्वारा पूजन करे, वैश्य वैश्योचित कर्मोंके द्वारा पूजन करे और शूद्र शूद्रोचित कर्मोंके द्वारा पूजन करे। इस प्रकार सबका पूजन, सबका हित करनेसे अपना कल्याण हो जाता है—यह बात गीतामें बहुत विलक्षण रीतिसे बतायी गयी है।

यदि हम सुख चाहते हैं तो दूसरोंको भी सुख पहुँचाना हमारा कर्तव्य है। यदि हम अपने पास कुछ भी नहीं रखते हैं तो दूसरोंको देनेका विधान हमारेपर लागू भी नहीं होता। इन्कमपर टैक्स लगता है। हमने कमाया है तो उसपर टैक्स लगेगा। यदि हमने कमाया ही नहीं तो उसपर टैक्स कैसे लगेगा? अतः यदि हम अपने पास वस्तुएँ रखते हैं तो उनसे दूसरोंकी सेवा करनी है, दूसरोंका हित करना है। गीताका तात्पर्य सबके कल्याणमें है और सबके कल्याणमें ही हमारा कल्याण निहित है। जो लोगोंको अन्न बाँटता है, क्या वह भूखा रहेगा? क्या उसको अन्न नहीं मिलेगा? ऐसे ही जो सबके हितमें लगा हुआ है, क्या उसका हित नहीं होगा? उसका हित अपने-आप हो जायगा।

चाहे धनी हो, चाहे गरीब हो; चाहे बहुत परिवारवाला हो, चाहे अकेला हो; चाहे बलवान् हो, चाहे निर्बल हो; चाहे विद्वान् हो, चाहे मूर्ख हो, कल्याणमें सबका समान हिस्सा है। जैसे, एक माँके दस बेटे होते हैं तो क्या माँके दस हिस्से होते हैं? माँ तो सभी बेटोंके लिये पूरी-की-पूरी होती है। दसों बेटे पूरी माँको अपनी मानते हैं। ऐसे ही भगवान् पूरे-के-पूरे हमारे हैं। भगवान्‌के हिस्से नहीं होते। हम सब उनकी गोदमें बैठनेके समान अधिकारी हैं। इसलिये हम सब आपसमें प्रेमसे रहें और एक-दूसरेका हित करें—यह गीताका सिद्धान्त है—**'परस्परं**

भावयन्तः', 'सर्वभूतहिते रताः।'

प्रश्न—दान देनेमें, सेवा करनेमें पात्र-अपात्रका विचार करना चाहिये कि नहीं?

उत्तर—अन्न, जल, वस्त्र और औषध—इनको देनेमें पात्र-अपात्र आदिका विचार नहीं करना चाहिये। जिसको अन्न, जल आदिकी आवश्यकता है, वही पात्र है। परन्तु कन्यादान, भूमिदान, गोदान आदि विशेष दान करना हो तो उसमें देश, काल, पात्र आदिका विशेष विचार करना चाहिये।

अन्न, जल, वस्त्र और औषध—इनको देनेमें यदि हम पात्र-कुपात्रका अधिक विचार करेंगे तो खुद कुपात्र बन जायँगे और दान करना कठिन हो जायगा! अतः हमारी दृष्टिमें अगर कोई भूखा, प्यासा आदि दीखता हो तो उसको अन्न, जल आदि दे देना चाहिये। यदि वह अपात्र भी हुआ तो हमें पाप नहीं लगेगा।

प्रश्न—दूसरोंको देनेसे लेनेवालेकी आदत बिगड़ जायगी, लेनेका लोभ पैदा हो जायगा; अतः देनेसे क्या लाभ?

उत्तर—दूसरेको निर्वाहके लिये दें, संचयके लिये नहीं अर्थात् उतना ही दें, जिससे उसका निर्वाह हो जाय। यदि लेनेवालेकी आदत बिगड़ती है तो यह दोष वास्तवमें देनेवालेका है अर्थात् देनेवाला कामना, ममता, स्वार्थ आदिको लेकर देता है। यदि देनेवाला निःस्वार्थ-भावसे, बदलेकी आशा न रखकर दे तो जिसको देगा, उसका स्वभाव भी देनेका बन जायगा, वह भी सेवक बन जायगा! रामायणमें आया है—

सर्बस दान दीन्ह सब काहू। जेहिं पावा राखा नहिं ताहू॥

(मानस, बाल० १९४। ४)

~~○~~

८. संयोग, वियोग और योग

गीतामें भगवान् कहते हैं—

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्। (६। २३)

'जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है, उसको योग नामसे जानना चाहिये।'

सुख और दुःख दोनों आने-जानेवाले हैं, पर जिस प्रकाशमें इन दोनोंके आने-जानेका भान होता है, उसका नाम 'योग' है। उस प्रकाशमें सुख और दुःख दोनों ही नहीं हैं। अगर सुख-दुःखकी सत्ता मानें तो सुख और दुःख दोनों भिन्न-भिन्न हैं। सुखके समय दुःख नहीं है और दुःखके समय सुख नहीं है। परन्तु ज्ञानमें, चिति शक्तिमें ये दोनों ही नहीं हैं। ये दोनों आने-जानेवाले और अनित्य हैं—'**आगमापायिनोऽनित्याः**' (गीता २। १४)। परन्तु ये दोनों सुख और दुःख जिससे प्रकाशित होते हैं, वह प्रकाश सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। उस प्रकाशको ही 'योग' अथवा 'नित्ययोग' कहते हैं। उस नित्ययोगमें स्थिति करनी नहीं है, प्रत्युत उसमें हमारी स्वतः-स्वाभाविक स्थिति है। केवल उधर लक्ष्य करके अनुभव करना है। अगर स्थिति करेंगे तो कर्तृत्वाभिमान आ जायगा।

जैसे किसी सत्संग-भवनमें बिजलीका प्रकाश हो रहा हो तो जब वहाँ कोई भी आदमी नहीं आता, तब भी प्रकाश रहता है, जब सब आदमी आ जाते हैं, तब भी प्रकाश रहता है और जब सब आदमी चले जाते हैं, तब भी प्रकाश रहता है। आदमी आयें अथवा चले जायँ, कम आयें अथवा ज्यादा आयें, प्रकाशमें कोई फर्क नहीं पड़ता, वह ज्यों-का-त्यों रहता है। परन्तु हमारा लक्ष्य प्रकाशकी तरफ नहीं रहता, प्रत्युत आदमियोंकी तरफ रहता है

कि इतने आदमी आ गये, इतने आदमी चले गये। इसी तरह संयोग हो या वियोग हो, नित्ययोगमें कोई फर्क नहीं पड़ता, वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। नित्ययोगमें न संसार है और न संसारका संयोग-वियोग है। हमें केवल उधर लक्ष्य करना है। गीतामें आया है—

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ (६।२५)

तात्पर्य है कि कुछ भी चिन्तन न करे। आत्माका, अनात्माका, परमात्माका, संसारका, संयोगका, वियोगका कुछ भी चिन्तन न करे। करनेसे उपासना होती है, तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। तत्त्वकी प्राप्ति तो केवल लक्ष्य करनेसे होती है कि 'यह है'!

कोई तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी महापुरुष हो या साधारण आदमी हो, ज्ञानी हो या अज्ञानी हो, सदाचारी हो या दुराचारी हो, सज्जन हो या दुष्ट हो, भक्त हो या कसाई हो, तत्त्वमें कोई फर्क नहीं पड़ता। तत्त्वमें न श्रवण है, न मनन है, न निदिध्यासन है, न ध्यान है, न समाधि है, न व्युत्थान है। केवल उधर लक्ष्य करना है। गुरु भी वास्तवमें कोई नया ज्ञान नहीं देता, प्रत्युत जो ज्ञान शिष्यके भीतर पहलेसे ही विद्यमान है, उसकी तरफ लक्ष्य कराता है। लक्ष्य करानेसे तत्त्वकी जागृति हो जाती है। अगर गुरुके भीतर यह अभिमान आता है कि मैंने शिष्यको ज्ञान दे दिया, उसका अज्ञान मिटा दिया, उसका कल्याण कर दिया तो वह वास्तवमें गुरु है ही नहीं! वास्तविक गुरुके भीतर तो यह भाव रहता है कि मैंने शिष्यकी बात ही उसको बतायी है, उसके अनुभवकी तरफ ही उसकी दृष्टि करायी है, नया कुछ नहीं दिया है। इसलिये तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी महात्माओंमें कभी यह स्फुरणा होती ही नहीं कि मैंने इसको कुछ दे दिया, इसका कल्याण कर दिया। परन्तु

शिष्यकी दृष्टिसे देखें तो गुरुने कृपा करके इतना दे दिया, जिसका कोई अन्त ही नहीं है! दूसरा कोई इतना दे ही नहीं सकता। कारण कि अनन्त जन्मोंसे जिसकी तरफ लक्ष्य नहीं गया था, उस तत्त्वकी तरफ लक्ष्य करा दिया, जिससे उसकी जागृति हो गयी! अनादिकालसे संसारमें भटकते जीवको इतना दिया कि कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहा!

जैसे एक आदमी दिनभर खेतमें काम करता है तो शामको मालिक उसको पैसे देता है। अगर ऐसा मानें कि पैसे उसको काम करनेसे मिले तो फिर किसी जंगलमें जाकर काम करनेसे पैसे क्यों नहीं मिलते? अगर ऐसा मानें कि पैसे मालिकसे मिलते हैं तो फिर बिना काम किये मालिक पैसे क्यों नहीं देता? अतः वास्तवमें पैसे न तो काम करनेसे मिलते हैं और न मालिकसे मिलते हैं, प्रत्युत अपने प्रारब्धसे मिलते हैं। ऐसे ही तत्त्व न गुरुसे मिलता है, न भगवान्‌से मिलता है, प्रत्युत अपनी जिज्ञासासे मिलता है। अगर शिष्यमें जिज्ञासा न हो, तत्त्वको जाननेकी चाहना न हो तो गुरु क्या करेगा?

दीन्ही थी लागी नहीं, बाँस नलीमें फूँक।
गुरु बेचारा क्या करे, चेले माँही चूक॥

इसलिये तत्त्वको जाननेके लिये कोई विशेष अधिकारी बननेकी जरूरत नहीं है, प्रत्युत केवल जिज्ञासाकी जरूरत है। जिसके भीतर जिज्ञासा है, वह तत्त्वको जाननेका अधिकारी हो गया!

योग अनित्य नहीं है, प्रत्युत नित्य है। भगवान्‌ने भी योगको अव्यय कहा है—**'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्'** (गीता ४।१)। साधक कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि किसी मार्गसे चले,

अन्तमें उसको नित्ययोगकी ही प्राप्ति होगी। साधककी कर्मयोगमें रुचि है तो वह कर्मयोगसे नित्ययोगका अनुभव कर लेगा, ज्ञानयोगमें रुचि है तो वह ज्ञानयोगसे नित्ययोगका अनुभव कर लेगा, भक्तियोगमें रुचि है तो वह भक्तियोगसे नित्ययोगका अनुभव कर लेगा और ध्यानयोगमें रुचि है तो वह ध्यानयोगसे नित्ययोगका अनुभव कर लेगा। इस नित्ययोगका कभी किसी भी अवस्थामें अभाव नहीं होता। यह अज्ञान-अवस्थामें भी वैसा ही रहता है और ज्ञान-अवस्थामें भी वैसा ही रहता है। जाग्रत्-अवस्था हो, स्वप्न-अवस्था हो, सुषुप्ति-अवस्था हो, मूर्च्छा-अवस्था हो अथवा समाधि-अवस्था हो, यह नित्ययोग सदा ज्यों-का-त्यों रहता है, इसमें किंचिन्मात्र भी फर्क नहीं पड़ता।

यह नित्ययोग सबको निरन्तर स्वतःप्राप्त है, पर जिज्ञासाके बिना साधक इसको पकड़ता नहीं। कारण कि जिज्ञासामें ही इसको पकड़नेकी शक्ति है। जैसे, भोजन बढ़िया हो, पर भूखके बिना उसको पा नहीं सकते और पा लें तो उसका रस नहीं बनता, जिससे वह शक्ति नहीं देता। जबतक जिज्ञासा जाग्रत् नहीं होती, तभीतक तत्त्वप्राप्तिमें देरी है। जिज्ञासा जाग्रत् होनेपर कुछ देरी नहीं है। किसी भी तरहका दूसरा कोई आग्रह न हो तो जिज्ञासा जाग्रत् होनेपर तत्काल नित्ययोगकी प्राप्ति हो जायगी। अगर साधक अपने सम्प्रदायका, मतका, द्वैतका, अद्वैतका, भक्तिका, ज्ञानका, योगका कोई आग्रह रखेगा तो उसको जल्दी तत्त्वप्राप्ति नहीं होगी। सन्तोंने कहा है—

मतवादी जानै नहीं, ततवादी की बात।
सूरज उगा उल्लुवा, गिनै अँधेरी रात॥
हरिया तत्त विचारियै, क्या मत सेती काम।
तत्त बसाया अमरपुर, मतका जमपुर धाम॥

प्रश्न—नित्ययोगका अनुभव करनेका सुगम उपाय क्या है?

उत्तर—संसारमें हम अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख, भाव-अभाव, आदर-निरादर, निन्दा-स्तुति आदि जितने भी द्वन्द्व देखते हैं, उन सबका संयोग और वियोग होता है। इस संयोग और वियोग—दोनोंपर विचार करें तो संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है। अगर संसारके नित्यवियोगको स्वीकार कर लें तो परमात्माके साथ नित्ययोगका अनुभव हो जायगा।

संसारकी किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदिसे हमारा संयोग (मिलन) हुआ है तो अन्तमें उसका वियोग अवश्य होगा—

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥

(वाल्मीकि० २।१०५।१६; महा० आश्व० ४४।१९)

'समस्त संग्रहोंका अन्त विनाश है, लौकिक उन्नतियोंका अन्त पतन है, संयोगका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है।'

संसारका वियोग नित्य है—इसका अनुभव मनुष्यमात्रको है। यह कोई नयी बात नहीं है। पहले भी वियोग था, बादमें भी वियोग रहेगा और संयोगके समय भी निरन्तर वियोग हो रहा है; अतः वियोग नित्य है। नित्यको स्वीकार कर लें तो अनित्यका त्याग हो जायगा। अनित्यका त्याग करना ही साधकका मुख्य कार्य है। वास्तवमें वियोगका ही महत्त्व है, संयोगका नहीं। साधकसे गलती यह होती है कि वह संयोगको सच्चा मानकर उसको महत्त्व देता है, पर वियोगको महत्त्व नहीं देता। वह वियोगमें संयोगकी लालसा रखता है; जैसे—धन नहीं हो तो धनकी लालसा रखता है। अगर वह संयोगके साथ सम्बन्ध न रखकर वियोगके साथ सम्बन्ध रखे, वियोगको ही महत्त्व दे तो निहाल हो जाय! जो नित्य (वियोग)-

को महत्त्व दे, वह साधक है और जो अनित्य (संयोग)-को महत्त्व दे, वह संसारी है। जो नित्यका आदर करता है, वह ज्ञानी है और जो अनित्यका आदर करता है, वह अज्ञानी है। नित्य तत्त्वको न पकड़कर अनित्य तत्त्वको पकड़ना ही जन्म-मरणका कारण है। गीतामें आया है—

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ (१३। २१)

'गुणोंका संग ही ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होनेका कारण है।'

गुणोंका संग अनित्य है और गुणोंसे असंगता नित्य है। असंगता अपना स्वरूप है—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदा० ४। ३। १५)। अगर नित्य (गुणोंसे असंगता)-को पकड़ें तो जन्म-मरण हो ही नहीं सकता।

संयोग अनित्य है और वियोग नित्य है—यह सम्पूर्ण वेदों और शास्त्रोंकी सार बात है। संसारके वियोगका अनुभव कर लेना ही नित्ययोग है—'**तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (गीता ६। २३)। मिलना नित्य नहीं रहेगा, पर बिछुड़ना नित्य रहेगा। हम मिलनकी इच्छा रखते हैं, मिलनको महत्त्व देते हैं—यह मूर्खता है। यह मूर्खता सत्संगसे मिटती है।

संसारका वियोग नित्य है—यह किसी एक व्यक्ति, मत, सम्प्रदाय, धर्म आदिकी बात नहीं है, प्रत्युत सबकी बात है। इसमें कोई मतभेद नहीं है। जिससे नित्य वियोग है, उसके संयोगको स्वीकार कर लिया, उसको सत्ता और महत्ता दे दी, इसीलिये नित्ययोगका अनुभव नहीं हो रहा है। जो 'नहीं' है, उसको 'है' मान लिया, इसीलिये 'है' होते हुए भी दीखना बन्द हो गया। 'है' तो सदा 'है' ही रहता है, कभी 'नहीं' में बदलता नहीं। सदा साथ रहनेवालेको देखनेका यही उपाय है

कि सदा बिछुड़नेवालेको साथ न मानें। जिसका वियोग अवश्य होगा, उसके वियोगको वर्तमानमें ही स्वीकार कर लें। तात्पर्य है कि जिसका वियोग हो जायगा, उसमें राग न करें, उसको महत्त्व न दें, उसके प्रभावको स्वीकार न करें। जब सब संयोगोंका वियोग हो जायगा अर्थात् संयोगोंमें राग नहीं रहेगा, तब नित्ययोगका अनुभव हो जायगा।

कुछ लोग ऐसी शंका करते हैं कि नित्ययोगका अनुभव होनेपर अर्थात् ज्ञान होनेपर व्यवहार कैसे होगा? वास्तवमें ज्ञान अज्ञानका निवर्तक होता है, व्यवहारका निवर्तक नहीं होता। अतः ज्ञान होनेपर व्यवहारमें कोई बाधा नहीं आयेगी, प्रत्युत कामना, ममता, स्वार्थ आदि दोषोंके मिट जानेसे बड़ा अच्छा और सुन्दर व्यवहार होगा। उस व्यवहारसे स्वतः-स्वाभाविक सबका हित होगा।

संसारमें जितना भी संयोग देखनेमें आता है, सबका निरन्तर वियोग हो रहा है। संकल्प-विकल्प भी मिट रहे हैं। कोई बड़ी आफत आ जाय तो वह भी मिट रही है। किसी मनुष्यके मरनेका शोक होता है तो वह शोक भी बिना उद्योग किये, अपने-आप मिट जाता है। तात्पर्य है कि संसारकी सब चीजें वियुक्त होनेवाली, मिटनेवाली हैं और मिट रही हैं—

ऊगा सोई आथवें, फूला सो कुम्हलाय।
चिण्या देवल ढह पड़े, जाया सो मर जाय॥

अगर इस नित्यवियोगको अभी स्वीकार कर लें तो इतनेसे ही बड़ी शान्ति मिलेगी, मनकी हलचल मिटेगी। कोई आदमी मर जाता है तो हृदयमें एक धक्का लगता है। धन चला जाता है तो एक धक्का लगता है। क्यों धक्का लगता है? उनके संयोगको स्थायी मान लिया, इसलिये धक्का लगता है। अतः

पहलेसे ही यह स्वीकार कर लें कि इन सबका वियोग होनेवाला है। कोई मर गया, कोई चला गया तो नयी बात क्या हुई! ये सब तो जानेवाले ही हैं। सूर्य अस्त होनेपर व्यवहारमें बाधा लग जाती है; परन्तु 'उदय हुआ है तो अस्त होगा ही'—यह भाव होनेसे दुःख नहीं होता। इसी तरह जो जन्मा है, वह मरेगा ही; जो आया है, वह जायगा ही—यह भाव होगा तो फिर किसीकी मृत्युपर अथवा जानेपर दुःख नहीं होगा। जैसे बालकपना चला गया तो अब उसको ला नहीं सकते, ऐसे ही जितनी चीजोंका वियोग हो गया, उनमेंसे किसी भी चीजको ला नहीं सकते और अभी जो चीजें हैं, वे भी जा रही हैं, उनको रख नहीं सकते। पहलेवाली चली गयी, अभीवाली जा रही है तो भविष्यमें आनेवाली कौन-सी टिकेगी? जानेवालेको महत्ता क्या दें? क्या जानेवाली, मिटनेवाली चीजकी भी कोई महत्ता होती है? उसको महत्ता न दें तो नित्ययोगका अनुभव हो जायगा।

संसार पहले भी हमारे साथ नहीं था, पीछे भी हमारे साथ नहीं रहेगा और अभी भी हमारे साथ नहीं है, इसलिये उससे नित्यवियोग है। परमात्मा पहले भी हमारे साथ थे, पीछे भी हमारे साथ रहेंगे और अभी भी हमारे साथ हैं, इसलिये उनसे नित्ययोग है। इस नित्यवियोग अथवा नित्ययोगका कोई चिन्तन नहीं करना है। यह तो है ही ऐसा। केवल इसका अनुभव करना है। यही सहजावस्था है।

~~o~~

९. सत्संग सुननेकी विद्या

सत्संग सुननेकी भी एक विद्या है। यदि उस विद्याको काममें लिया जाय तो सत्संगसे बहुत लाभ उठाया जा सकता है। अगर किसीको सत्संग सुननेकी विद्या आ जाय तो वह बहुत बड़ा विद्वान् बन जाय! पढ़ाई करके कोई इतना विद्वान् नहीं बनता, जितना सत्संगसे बनता है। सत्संगमें जैसी पढ़ाई होती है, वैसी पढ़ाई ग्रन्थ पढ़नेसे नहीं होती। ग्रन्थ पढ़नेसे तो एक विषयका ज्ञान होता है, पर सत्संगसे पारमार्थिक और व्यावहारिक सब तरहका ज्ञान होता है। सत्संग करनेवाला भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, लययोग, राजयोग, अष्टांगयोग, हठयोग आदि अनेक विषयोंसे परिचित हो जाता है। इतना ही नहीं, जिस विषयको सत्संगमें सुना ही नहीं, उस विषयमें भी उसकी बुद्धि काम करने लगती है। जैसे, सत्संगमें विवाहकी चर्चा सुनी ही न हो, पर उसमें भी सत्संग करनेवालेकी बुद्धि काम करेगी। मेरी तो ऐसी धारणा है कि कोई ठीक तरहसे सत्संग सुनेगा अथवा गीताका ठीक तरहसे अध्ययन करेगा, उसकी बुद्धि किसी विषयमें प्रवेश न करे—यह नहीं हो सकेगा। वह जिस विषयमें चाहे, उसीमें उसकी बुद्धि प्रविष्ट हो जायगी। इसलिये मन लगाकर सत्संग सुनना चाहिये।

जो प्रत्येक काम मन लगाकर करता है, वही मन लगाकर सत्संग सुन सकेगा। इसलिये जो भी काम करें, मन लगाकर करें। रसोई बनायें तो मन लगाकर बनायें, भोजन करें तो मन लगाकर करें, शौच-स्नान आदि करें तो मन लगाकर करें। ऐसा करनेसे प्रत्येक काम मन लगाकर करनेका स्वभाव पड़ जायगा। वह स्वभाव पारमार्थिक मार्गमें भी काम आयेगा, जिससे सत्संग,

भजन, ध्यान आदिमें मन लगने लगेगा। इसलिये ऐसा न समझें कि केवल भजन-ध्यान ही मन लगाकर करने हैं, दूसरे काम मन लगाकर नहीं करने हैं। प्रत्येक काम मन लगाकर करना है, जिससे काम भी बढ़िया होगा और स्वभाव भी सुधरेगा। वास्तवमें काम सुधरनेसे इतना लाभ नहीं है, जितना स्वभाव सुधरनेसे लाभ है। स्वभावमें सुधार होनेसे प्रत्येक काममें बुद्धि प्रवेश करेगी, प्रत्येक काम करनेकी विद्या आ जायगी।

यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि जिस कामको लोग वर्षोंसे प्रतिदिन करते आ रहे हैं, उसको भी वे ठीक तरहसे नहीं करते। जैसे, स्त्रियाँ उम्रभर बालकोंको पालते-पालते बूढ़ी हो जाती हैं, पर बालकोंको भोजन कराना प्रायः नहीं आता! बालकको एक साथ ज्यादा परोस दें तो वह थोड़ा खाकर छोड़ देगा, पर थोड़ा-थोड़ा करके परोसें तो वह ज्यादा खा लेगा। इसी तरह वक्ताको प्रायः कहना नहीं आता और श्रोताको प्रायः सुनना नहीं आता। इसका कारण यह है कि प्रत्येक काम मन लगाकर करनेका स्वभाव नहीं है।

कई सज्जन प्रश्न किया करते हैं कि मन कैसे लगे? अतः मन लगानेकी एक सुगम युक्ति बतायी जाती है। चुपचाप बैठ जायँ और मनसे भगवन्नामका जप करें तथा मनसे ही उसकी गिनती करें। हाथमें न तो माला रखें, न अँगुलियोंसे गिनें और न मुँहसे ही बोलें, केवल मनसे ही गिनती करें। इस प्रकार कम-से-कम एक माला (१०८ बार) भगवन्नामका जप करें। गिनतीमें चूकें नहीं। अगर चूक जायँ तो पुनः एकसे शुरू करें। ऐसा करके देखें तो बड़ा लाभ होगा। कुछ लोग केवल तमाशेकी तरह पूछ लेते हैं कि मन कैसे लगे, पर जो उपाय बताया जाता है, उसको

करते ही नहीं! किसी व्यक्तिने एक सन्तसे पूछा कि महाराज! मन कैसे लगे? तो उन्होंने पूछा कि तुमने यह प्रश्न मेरेसे ही किया है या पहले और भी किसीसे किया था? उसने कहा कि और भी किसीसे किया था। सन्तने पूछा कि उसने क्या उपाय बताया था? वह बोला कि यह तो मेरेको याद नहीं है। सन्त बोले—तो फिर यही दशा मेरी भी होगी! मेरेसे उपाय पूछकर मेरी फजीती ही करोगे!

कई भाई-बहन सत्संगके समय माला फेरते रहते हैं अथवा कापीमें भगवन्नाम लिखते रहते हैं। अगर तत्परतासे मन लगाकर सत्संग सुनते हों, पर पूर्वाभ्यासके कारण (स्वभाववश) स्वतः जप होता हो तो कोई बाधा नहीं आती। परन्तु ध्यान एक तरफ ही रहेगा, दो तरफ नहीं। जो कभी सत्संगमें ध्यान रखता है और कभी मालामें ध्यान रखता है, उसको सत्संग सुनना आता ही नहीं। सत्संगके समय जिसका मन और जगह चला जाता है, घर आदिकी बातें याद आती रहती हैं, वह ठीक तरहसे सत्संग सुन ही नहीं सकता। स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश)-में गंगाजीके तटपर वटवृक्षके नीचे सत्संग हो रहा था। वहाँ मैंने भाई-बहनोंसे कहा कि आपलोग ध्यान देकर सुनोगे तो एक ही बात सुन सकोगे, दो बात नहीं सुन सकोगे। मैंने उदाहरण दिया कि अभी गंगाजीका शब्द हो रहा है न? वे बोले कि हाँ, हो रहा है। मैंने पूछा कि इतनी देरसे क्या आप गंगाजीका शब्द सुन रहे थे? वे बोले—नहीं सुन रहे थे। क्यों नहीं सुन रहे थे? कि मन सत्संग सुननेमें लगा था। कान भी थे और शब्द भी था, पर मन उस तरफ न रहनेसे वह सुनायी नहीं देता था। इसी तरह श्रोताका मन दूसरी तरफ रहेगा तो वह सत्संग नहीं सुन सकेगा। जैसे सत्संग सुनते समय अपने-आप श्वास चलते हैं, नब्ज चलती है,

उसमें मन नहीं लगाना पड़ता, ऐसे ही बिना मन लगाये अपने-आप जप होता हो तो सत्संग सुना जा सकता है। परन्तु सत्संग सुनते समय कोई जप करना चाहे तो नहीं हो सकता और लिखना तो हो ही नहीं सकता। मेरे विचारसे जिनको घरमें राम-राम लिखनेके लिये समय नहीं मिलता, घरमें काम-धंधा रहता है, वे सोचते हैं कि यहाँ निकम्मे बैठे हैं, कोई काम तो है नहीं, इसलिये यहाँ राम-रामकी कापी भर लें! तात्पर्य यह निकला कि जो सत्संगको फालतू समझते हैं, वे वहाँ बैठकर कापी भरते हैं। ऐसे लोग सत्संग नहीं सुन सकते।

ध्यानपूर्वक सत्संग न सुननेसे मन संसारका चिन्तन करने लगता है, जिससे सात्त्विकी वृत्ति नहीं रहती, प्रत्युत राजसी वृत्ति आ जाती है। राजसी वृत्ति आनेसे फिर तत्काल तामसी वृत्ति आ जाती है, जिससे श्रोताको नींद आ जाती है। तात्पर्य है कि मन लगाकर सत्संग न सुननेसे सात्त्विकी वृत्तिसे सीधे तामसी वृत्ति (नींद) नहीं आती, प्रत्युत क्रमसे सात्त्विकीसे राजसी और राजसीसे तामसी वृत्ति पैदा होती है।

सत्संगके समय श्रोताको चाहिये कि वह अपनी दृष्टि वक्ताके मुखपर रखे। वक्ताके मुखकी तरफ देखते हुए ध्यानपूर्वक सुननेसे उसकी बातें हृदयमें धारण हो जाती हैं। जो कभी इधर और कभी उधर देखते हुए सुनते हैं, उनको सुनना नहीं आता। सुनते समय तत्परतासे मन लगाकर सुनना चाहिये कि वक्ताने किस विषयपर बोलना आरम्भ किया और उसमें कौन-सा दृष्टान्त दिया, कौन-सी युक्ति दी, कौन-सा दोहा या श्लोक कहा आदि-आदि। इस प्रकार मन लगाकर सुननेसे श्रोताको पहले ही यह पता चल जाता है कि अब वक्ता आगे क्या कहेगा? कौन-सा विषय कहेगा?

सत्संगके समय जब वक्ता दुर्गुण-दुराचारके त्यागकी बात कहता है, तब श्रोता दूसरे व्यक्तियोंमें दुर्गुण-दुराचारका चिन्तन करता है और जब वक्ता सद्गुण-सदाचारको ग्रहण करनेकी बात कहता है, तब श्रोता अपनेमें सद्गुण-सदाचारका चिन्तन करने लगता है—इन दोनों बातोंसे सत्संगके समय कुसंग होने लगता है! कारण कि दूसरे व्यक्तिमें अवगुणोंका चिन्तन करनेसे उन अवगुणोंसे तादात्म्य हो जाता है और तादात्म्य होनेसे वे अवगुण अपनेमें स्वतः-स्वाभाविक आने लगते हैं तथा दूसरोंमें दोषदृष्टि करनेका स्वभाव बन जाता है। अपनेमें सद्गुणोंका चिन्तन करनेसे अपनेमें अभिमान आ जाता है, जो अवगुणोंका मूल है। अतः अवगुणोंकी बात सुननेपर श्रोताको यह देखना चाहिये कि मेरेमें कौन-कौनसे अवगुण हैं और मेरेको किन-किन अवगुणोंका त्याग करना है? सद्गुणोंकी बात सुननेसे श्रोताको यह विचार करना चाहिये कि दैवी अर्थात् भगवान्की सम्पत्ति होनेसे सभी सद्गुण भगवान्के हैं और उनकी कृपासे ही अपनेमें आते हैं और आये हैं। ऐसा विचार करते हुए श्रोता भगवान्में तल्लीन हो जाय। भगवान्में तल्लीन होनेसे वे सद्गुण अपनेमें स्वतः-स्वाभाविक आने लगते हैं।

अनुभवी पुरुष यदि किसी विषयका विवेचन करता है तो उसका विवेचन और तरहका (विलक्षण) होता है और जो शास्त्रकी दृष्टिसे विवेचन करता है, उसका विवेचन और तरहका होता है। दोनोंमें बड़ा फर्क होता है। शास्त्रकी दृष्टिसे विवेचन करनेसे वे विषय श्रोताको याद हो जाते हैं। इससे वह श्रोता वक्ता तो बन सकता है, पर उसका जीवन नहीं बदल सकता। परन्तु अनुभवी पुरुषके द्वारा विवेचन करनेसे श्रोताका जीवन बदल जाता है। गीता, रामायण, भागवत आदि सुननेसे, भगवान्की लीलाएँ सुननेसे भी असर पड़ता है। परन्तु वे भी

यदि अनुभवी पुरुषके द्वारा, प्रेमी भक्तके द्वारा सुना जाय तो उसमें बड़ी विलक्षणता होती है। भगवान्‌के भक्तोंके चरित्र पढ़ने, सुनने, कहनेसे स्वाभाविक ही अन्तःकरण निर्मल होता है। इसलिये मैं भाई-बहनोंसे बहुत कहा करता हूँ कि आप भक्तोंके चरित्र पढ़ो और बालकोंको भी पढ़ाओ तथा उनसे सुनो। बालक उनको कहानीके रूपमें शौकसे पढ़ेंगे तो उनपर भगवद्भावोंका असर पड़ेगा। भगवान् और उनके भक्तोंके चरित्रोंमें एक विलक्षण शक्ति है। उनको यदि मन लगाकर सुना जाय तो हृदय गद्‌गद हो जायगा, नेत्रोंमें आँसू आ जायँगे, गला भर जायगा, एक मस्ती आ जायगी! श्रीमद्भागवतमें आया है—

वाग्गद्‌गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्‌गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥

(११। १४। २४)

'जिसकी वाणी मेरे नाम, गुण और लीलाका वर्णन करते-करते गद्‌गद हो जाती है, जिसका चित्त मेरे रूप, गुण, प्रभाव और लीलाओंका चिन्तन करते-करते द्रवित हो जाता है, जो बारम्बार रोता रहता है, कभी हँसने लग जाता है, कभी लज्जा छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी नाचने लग जाता है, ऐसा मेरा भक्त सारे संसारको पवित्र कर देता है।'

अन्तःकरणकी जो सूक्ष्म वासना है, वह जैसे भगवच्चरित्रोंको पढ़ने-सुननेसे दूर होती है, वैसे विवेकसे दूर नहीं होती। विवेकपूर्वक गहरे उतरकर वेदान्तके ग्रन्थोंको पढ़नेसे उतना लाभ नहीं होता, जितना लाभ भगवान् तथा उनके भक्तोंके चरित्रोंको मन लगाकर पढ़नेसे होता है। वेदान्तके ग्रन्थोंको

मन लगाकर पढ़नेसे विवेक विकसित होता है और भगवान् तथा उनके भक्तोंका चरित्र मन लगाकर पढ़नेसे अन्त:करण निर्मल तथा कोमल होता है। अन्त:करण कोमल होनेसे स्वत: भगवद्भक्ति होती है। तात्पर्य है कि विवेकमें अन्त:करण पिघलता नहीं, प्रत्युत कठोर रहता है; परन्तु भक्तिमें अन्त:करण पिघलता है, जिससे उनमें भक्तिके नये संस्कार बैठते हैं।

विवेक '**विचिर् पृथग्भावे**' धातुसे बनता है। तात्पर्य है कि विवेकमें दो चीजें होती हैं; जैसे—सत् और असत्, नित्य और अनित्य, शुभ और अशुभ, कर्तव्य और अकर्तव्य, ग्राह्य और त्याज्य आदि। सत् और असत्‌के विवेकमें साधक असत्‌का त्याग करता है। असत्‌का त्याग करनेपर भी असत्‌की सूक्ष्म सत्ता बनी रहती है। परन्तु तत्परतापूर्वक भगवान्‌के चरित्रोंको, स्तोत्रोंको तल्लीन होकर पढ़नेसे एक भगवान्‌की ही सत्ता रहती है, दूसरी सत्ता नहीं रहती। इसलिये भीतरकी जो सूक्ष्म वासनाएँ हैं, वे भगवान् और उनके भक्तोंके चरित्र पढ़ने-सुननेसे सुगमतापूर्वक नष्ट हो जाती हैं—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

भूख लगनेपर भोजन जितना गुण करता है, वैसा बिना भूखके नहीं करता; क्योंकि भूखके बिना रस नहीं बनता और रस बने बिना शक्ति नहीं आती। अत: भूखके बिना बढ़िया भोजन भी किस कामका? इसी तरह अगर श्रोतामें जाननेकी भूख हो और वक्ता अनुभवी हो तो श्रोताके अन्त:करणमें वक्ताकी बात प्रविष्ट हो जाती है। श्रोतामें तीव्र जिज्ञासा हो और किसी एक मतका पक्षपात न हो तो सुननेमात्रसे बोध हो जाता है। गीतामें आया है—

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(७।३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई एक वास्तविक सिद्धिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्धोंमें कोई एक ही मुझे तत्त्वसे जानता है।'

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि तत्त्वकी प्राप्ति कठिन है। इसका तात्पर्य है कि श्रोता ध्यान नहीं देते। हजारों मनुष्योंमें कोई एक ठीक ढंगसे सुनता है और तत्त्वप्राप्तिके लिये साधन करता है। जो साधन करके बहुत दूरतक पहुँच गये हैं, ऐसे सिद्धोंमें भी कोई एक ही तत्त्वसे जानता है। इस प्रकार इस श्लोकमें मनुष्योंकी सामान्य वस्तुस्थितिका वर्णन किया गया है, तत्त्वप्राप्तिकी कठिनताका वर्णन नहीं किया गया है। तत्त्वप्राप्तिकी अलौकिकताका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

(गीता २।२९)

'कोई इस शरीरीको आश्चर्यकी तरह देखता अर्थात् अनुभव करता है। वैसे ही अन्य कोई इसका आश्चर्यकी तरह वर्णन करता है तथा अन्य कोई इसको आश्चर्यकी तरह सुनता है और इसको सुन करके भी कोई नहीं जानता।'

उस तत्त्वका अनुभव, वर्णन आदि सब विलक्षण रीतिसे होता है, लौकिक बातोंकी तरह नहीं होता। 'अन्य' कहनेका तात्पर्य है कि तत्त्वका अनुभव करनेवालोंमें भी वर्णन करनेवाला कोई एक ही होता है। सब-के-सब अनुभव करनेवाले उसका वर्णन

नहीं कर सकते*। इसको सुन करके भी कोई नहीं जानता; क्योंकि वह मन लगाकर जिज्ञासापूर्वक नहीं सुनता।

'यत्न करनेवाले सिद्धोंमें कोई एक ही मुझे तत्त्वसे जानता है'—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि यत्नसे अर्थात् भीतरकी लगनसे ही परमात्मतत्त्वको जाना जा सकता है और 'इसको सुन करके भी कोई नहीं जानता'—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि सुननेमात्रसे अर्थात् अभ्याससे उस तत्त्वको कोई नहीं जान सकता। अभ्यासमें मन-बुद्धिकी प्रधानता होती है, पर लगनमें स्वयंकी प्रधानता होती है। अभ्याससे एक नयी अवस्थाका निर्माण होता है, जब कि लगनसे स्वयंमें सदासे विद्यमान तत्त्व प्रकट हो जाता है।

अनुभवी मनुष्यके द्वारा सुना जाय तो भीतर एक शक्ति प्रवेश करती है। पर सब आदमी उसकी बातोंको पकड़ नहीं पाते। कारण कि वक्ताका जो अनुभव है, उसको वह वाणीके द्वारा नहीं कह सकता। उसका जो अनुभव है, उतना बुद्धिमें नहीं आता। बुद्धिमें जितनी बातें आती हैं, उतनी मनमें नहीं आतीं। मनमें जितनी बातें आती हैं, उतनी वाणीमें नहीं आतीं। वाणीमें जितनी बातें आती हैं, उतनी श्रोताके कानोंतक नहीं पहुँचतीं। कानोंतक जितनी बातें पहुँचती हैं, उतनी उसका मन मनन नहीं करता। मन जितनी बातोंका मनन करता है, उतनी बातोंका बुद्धिमें निश्चय नहीं होता। बुद्धिमें जितना निश्चय होता है, उतना

---

* शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः।
वक्ता शतसहस्रेषु दाता जायेत वा न वा॥
(व्यासस्मृति ४। ५८-५९; स्कन्दपुराण मा० कुमा० २। ७०)

'सैकड़ों मनुष्योंमें कोई एक शूर पैदा होता है, हजारोंमें कोई एक पण्डित पैदा होता है, लाखोंमें कोई एक वक्ता पैदा होता है, दाता तो पैदा हो भी अथवा न भी हो!'

अनुभवमें नहीं आता। इस प्रकार क्रमसे देखें तो कहनेवालेके अनुभव और सुननेवालेके अनुभवमें बहुत अन्तर पड़ जाता है। परन्तु यदि श्रोता जिज्ञासु हो और वह मन लगाकर सुने तो बहुत जल्दी अनुभव हो जाता है।

सतगुरु भूठा इन्द्र सम, कमी न राखे कोय।
वैसा ही फल नीपजै, जैसी भूमिका होय॥

जैसे वर्षा सब जगह एक समान ही बरसती है। वर्षा, जमीन, खाद, धूप, वायु और जलमें कोई फर्क न होनेपर भी एक साथ पैदा होनेवाले मतीरेके स्वादमें और तस्तुम्बा (विसलुम्बा)-के स्वादमें बड़ा भारी फर्क होता है; क्योंकि दोनोंका बीज अलग-अलग होता है। जैसा बीज होता है, वैसा ही फल होता है। परन्तु मनुष्यकी बात इससे विलक्षण है! मनुष्यका बीज अर्थात् भाव पलट भी सकता है और वह दुष्टसे सन्त बन सकता है, दुरात्मासे महात्मा बन सकता है (गीता ९। ३०-३१); क्योंकि मूलमें वह परमात्माका ही अंश है। परन्तु उसमें दो बातें होनी चाहिये—वह कपटरहित हो और आज्ञाके अनुसार चले—'**अमाययानुवृत्त्या**' (श्रीमद्भा० ११। ३। २२)। इसलिये श्रोतामें कपट नहीं होना चाहिये अर्थात् भीतरमें किसी बातका कोई आग्रह, कोई पकड़ नहीं होनी चाहिये। अपनी बातका आग्रह होगा तो वह दूसरेकी बात सुन नहीं सकेगा और सुनेगा भी तो पकड़ नहीं सकेगा। कारण कि अपना आग्रह रहनेसे श्रोताका हृदय वक्ताकी बातको फेंकता है, ग्रहण नहीं करता। इससे वक्ताकी अच्छी बात भी हृदयमें बैठती नहीं। अतः अपने मत, सिद्धान्त, सम्प्रदायका आग्रह तत्त्वप्राप्तिमें बहुत बाधक है।

श्रोता अपनी कोई आड़ न लगाये तो अनुभवी महापुरुषके भाव उसके भीतर शीघ्र प्रविष्ट हो जाते हैं।

पारस केरा गुण किसा, पलटा नहीं लोहा।
कै तो निज पारस नहीं, कै बिच रहा बिछोहा॥

यदि लोहेसे सोना नहीं बना तो पारस असली नहीं है अथवा लोहा असली नहीं है। यदि पारस भी असली हो और लोहा भी असली हो, जंग लगा हुआ न हो तथा पारस और लोहेके बीचमें कोई आड़ (मिट्टी, पत्ता आदि) न हो तो पारससे स्पर्श होते ही लोहा तत्काल सोना बन जाता है। इसी तरह अगर कहनेवाला अनुभवी हो, सुननेवाला जिज्ञासु हो और बीचमें अपनी कुछ अटकल न लगाये तो वह पारस हो जाता है! इतना ही नहीं, वह पारससे भी विलक्षण हो जाता है—

पारसमें अरु संतमें, बहुत अंतरौ जान।
वह लोहा कंचन करै, वह करै आपु समान॥

पारससे बना हुआ सोना दूसरे लोहेको सोना नहीं बना सकता। कारण कि पारस लोहेको सोना बनाता है, पारस (अपने समान) नहीं बनाता। परन्तु अनुभवी महापुरुष निष्कपटभावसे सुननेवाले और आज्ञाके अनुसार चलनेवालेको भी अपने समान सन्त बना देता है, मानो पारसकी टकसाल खुल जाती है!

यदि श्रोतामें एकमात्र परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य नहीं है और वह केवल सीखनेके लिये, सीखकर व्याख्यान देनेके लिये सत्संग सुनता है तो वह सत्संगको बुद्धिका विषय बनाता है और सीखे हुए ज्ञानको ही अनुभव मान लेता है। ऐसे (सीखनेके उद्देश्यसे सत्संग करनेवाले) श्रोताको सत्संगमें नयापन नहीं दीखता और वह कहता है कि इन बातोंको तो मैं जानता हूँ, इनको बार-बार सुननेसे क्या लाभ? सीखे हुए ज्ञानसे श्रोता पण्डित, वक्ता, लेखक तो हो सकता है, पर तत्त्वज्ञ, जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी नहीं हो सकता। वह दूसरोंको उनके प्रश्नोंका उत्तर

दे सकता है, उनको ज्ञानकी बातें सिखा सकता है, पुस्तक लिख सकता है, पर तत्त्वका अनुभव नहीं करा सकता। कारण कि वाचक ज्ञानी बननेसे उसमें ज्ञानका अभिमान पैदा हो जाता है। जैसे बहेड़ेकी छायामें कलियुग रहता है, ऐसे ही अभिमानकी छायामें सम्पूर्ण दोष और उनके कारण विद्यमान रहते हैं। परन्तु जो सच्चे हृदयसे परमात्मप्राप्ति करना चाहता है, वह तो अनुभवके लिये ही सुनता है, सीखनेके लिये नहीं। वह सत्संगको केवल बुद्धिका विषय ही नहीं बनाता, प्रत्युत साथ-साथ उसमें तल्लीन भी होता है।

यद्यपि आध्यात्मिक पुस्तकें पढ़नेसे तथा प्रवचनोंकी कैसेट सुननेसे भी लाभ होता है, तथापि अनुभवी पुरुषके द्वारा सुननेसे बहुत अधिक विचित्र लाभ होता है। जिसने पहले प्रवचन सुना है, वह यदि उस प्रवचनकी कैसेट सुने तो उसपर जितना असर पड़ता है, उतना नये आदमीपर नहीं पड़ता। कारण कि जिसने पहले सत्संग सुना है, वह उसके कैसेट सुनेगा तो वह सब-का-सब दृश्य उसके मनके सामने आ जायगा, जिससे एक विलक्षण असर पड़ेगा। इसी तरह सत्संग सुननेसे जितना असर पड़ता है, उतना पुस्तक पढ़नेसे नहीं पड़ता। कारण कि सत्संग सुननेसे वक्ताके नेत्र, हाथ आदिकी मुद्रा, उसके भाव, उसकी दृष्टिका श्रोतापर एक विलक्षण असर पड़ता है। सुननेमें तो सुनानेवालेकी बुद्धिकी प्रधानता रहती है, पर पुस्तक पढ़नेमें तथा कैसेट सुननेमें अपनी बुद्धिकी प्रधानता रहती है। अगर श्रोता वक्ताके विवेचनको ध्यानपूर्वक सुने तो उसकी बुद्धि वक्ताकी बुद्धिमें प्रविष्ट हो जाती है। श्रोता अपनी बुद्धिसे उतना नहीं समझ सकता, जितना सुनानेवालेकी बुद्धिसे समझ सकता है। अगर सुनानेवालेकी कृपादृष्टि हो जाय तो उससे बहुत विशेष लाभ होता है। जैसे

गायका बछड़ा अपनी माँके थनोंसे दूध पीकर ही पुष्ट होता है। अगर बछड़ेकी माँ मर जाय और उसको दूसरी गायका दूध पिलाया जाय तो वह उतना पुष्ट नहीं होता। कारण कि स्तनपान कराते समय गाय अपने बछड़ेको स्नेहपूर्वक चाटती है, हुंकार करती है तो उससे बछड़ेकी जैसी पुष्टि होती है, वैसी केवल दूध पीनेसे नहीं होती। ऐसे ही सन्त-महात्मा कृपा करके विशेषतासे कहें और सुननेवाला उनके सम्मुख होकर लगनपूर्वक सुने तो तत्काल तत्त्वकी प्राप्ति होती है।

हरेक काममें भविष्य होता है, पर परमात्मतत्त्वमें भविष्य नहीं होता। परमात्माकी प्राप्ति धीरे-धीरे नहीं होती, प्रत्युत तत्काल होती है। सुनानेवाला अनुभवी पुरुष भी विद्यमान हो, सुननेवाला जिज्ञासु साधक भी विद्यमान हो और परमात्मतत्त्व तो विद्यमान है ही, फिर भविष्यका क्या काम? देरी होनेका कोई कारण ही नहीं है। परमात्मतत्त्व नित्य-निरन्तर सबमें विद्यमान है। सुनानेवालेने उधर दृष्टि करायी और सुननेवालेने उसको जान लिया—इसमें देरी किस बातकी? बहुत-से भाई-बहनोंने ऐसी भावना कर रखी है कि सुनते-सुनते, साधन करते-करते, धीरे-धीरे कभी परमात्माकी प्राप्ति होगी। परन्तु वास्तवमें सांसारिक काम ही 'कभी' होगा, पारमार्थिक काम 'कभी' नहीं होगा, वह तो 'अभी' ही होगा।

जो वस्तु पैदा होनेवाली होती है, उसीकी प्राप्तिमें भविष्य होता है। जो पैदा होनेवाली नहीं है, प्रत्युत नित्य-निरन्तर रहनेवाली वस्तु (परमात्मतत्त्व) है, उसकी प्राप्तिमें भविष्य कैसे होगा? सुननेकी भूख ही नहीं है, परमात्मतत्त्वकी तीव्र जिज्ञासा ही नहीं है, उसके लिये तड़पन ही नहीं है, उसके लिये व्याकुलता ही नहीं है, इसी कारण देरी हो रही है।

~~०~~

परम श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके कल्याणकारी साहित्य

465 साधन-सुधा-सिन्धु—
400 कल्याण-पथ—
401 मानसमें नाम-वन्दना
605 जित देखूँ तित तू—
406 भगवत्प्राप्ति सहज है—
535 सुन्दर समाजका निर्माण—
1175 प्रश्नोत्तर मणिमाला—
1247 मेरे तो गिरधर गोपाल—
403 जीवनका कर्तव्य—
436 कल्याणकारी प्रवचन—
405 नित्ययोगकी प्राप्ति—
1093 आदर्श कहानियाँ—
407 भगवत्प्राप्तिकी सुगमता—
408 भगवान्से अपनापन—
861 सत्संग-मुक्ताहार—
409 वास्तविक सुख—
1308 प्रेरक कहानियाँ
411 साधन और साध्य—
412 तात्त्विक प्रवचन—
414 तत्त्वज्ञान कैसे हो? एवं मुक्तिमें सबका समान अधिकार—
410 जीवनोपयोगी प्रवचन—
822 अमृत-बिन्दु—
821 किसान और गाय—
416 जीवनका सत्य—
417 भगवन्नाम—
418 साधकोंके प्रति—
419 सत्संगकी विलक्षणता—
545 जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग—
420 मातृशक्तिका घोर अपमान—
421 जिन खोजा तिन पाइयाँ—
422 कर्मरहस्य—
424 वासुदेवः सर्वम्—
425 अच्छे बनो—
426 सत्संगका प्रसाद—
1019 सत्यकी खोज—
1035 सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण—
1360 तू-ही-तू
1176 शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता और हम कहाँ जा रहे हैं? विचार करें—
1255 कल्याणके तीन सुगम मार्ग—
431 स्वाधीन कैसे बनें?—
702 यह विकास है या विनाश जरा सोचिये—
589 भगवान् और उनकी भक्ति—
617 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम—
427 गृहस्थमें कैसे रहें?—
432 एकै साधे सब सधै—
433 सहज साधना—
434 शरणागति—
435 आवश्यक शिक्षा— (सन्तानका कर्तव्य एवं आहार-शुद्धि)
1012 पञ्चामृत—(१०० पन्नोंका, पैकेटमें)
1037 हे मेरे नाथ मैं आपको भूलूँ नहीं—(१०० पन्नोंका, पैकेटमें)
1072 क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?—
730 संकल्पपत्र—
515 सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन—
770 अमरताकी ओर—
438 दुर्गतिसे बचो—
439 महापापसे बचो—
440 सच्चा गुरु कौन?—
444 नित्य-स्तुति और प्रार्थना—
729 सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण
445 हम ईश्वरको क्यों मानें?—
745 भगवत्तत्त्व—
632 सब जग ईश्वररूप है—
447 मूर्तिपूजा-नाम-जपकी महिमा—